सिद्धयोग

सम्पादक
संरक्षक
संस्थापक

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सितम्बर १९७४ ई.

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, संवाई, आगरा   ७१ अंक १

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या लेख	लेखक	पृष्ठ
१. योगमायासमावृतः	....	१
२. योगीजी अणिमादिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति एवं पुर्नविकास (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त श्री जगमोहन श्री महाराज	२
३. शिशिर ज्योत्स्ना (कविता)	श्री सत्येन्द्र यादव	५
४. अध्यात्म विद्या गणित तुल्य सिद्ध शास्त्र है	श्री स्व० बलवन्तराय	६
५. हे परमेश्वर (कविता)	श्री ज्ञानदेव	८
६. गीता दर्शन का व्यावहारिक रूप	श्री धर्मदेव शास्त्री	१०
७. वीर्य रक्षा के कुछ उपाय	श्री दामोदर सातवलेकर	१७
८. अद्भुत अवतार	वेदतीर्थ श्री हरिदत्त शास्त्री	२६
९. तू स्वरूप अक्षय जीव का	श्री किशोरलाल	२८
१०. वासनाओं का केन्द्रीकरण	उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज	२९
११. शाश्वत (कविता)	श्री राघवेन्द्र तिवारी	३२
१२. समाधि का आनन्द और ज्ञान	स्वामी श्री [illegible]	३३
१३. पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्	संकलित	३४
१४. स्वाध्याय एवं योग	श्री अज्ञात	३६
१५. सूक्ति-सरोवर	स्वामी श्री विष्णुतीर्थ जी महाराज	३८
१६. शिव-तत्व	श्री दीपचन्द्र चट्टोपाध्याय	४०
१७. ईश्वर-प्रणिधान अथवा भक्तियोग	श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री	४२
१८. समांग स्नान	श्री सन्त महाराज	४८

वार्षिक मूल्य १५ रुपया

संयुक्त सम्पादक
दिव्य
फोन ६२१९८

सिद्ध योग

वर्ष १
अङ्क १

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं न विचरन्तो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थं वहुविधानन्द योगप्रकाशोन्मेषणाम्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

दिसम्बर
१९७६

❀ योगमायासमावृतः ❀

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

भावार्थ

मेरे निर्विकार, सर्वोत्तम एवं सबसे बड़े-बड़े अद्वय स्वरूप को नासमझ लोग नहीं जानते । (फलतः) मुझे स्थूल या भौतिक रूप ही मान लेते हैं । (क्योंकि) मैं तो ऐश्वर्यमयी योग माया से छिपा होने के कारण सर्व-साधारण की दृष्टि में आता नहीं । (इसीलिए) मूढ़ लोग मुझ अजन्मा (और) अविनाशी को ठीक ठीक समझ पाते नहीं ।

हमारा विशेष लेख—

योगी को अणिमादिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति एवं पूर्ण वशित्व

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज]

अपने पिछले लेख में हमने भूतजय की साधना का वर्णन किया था। एक-एक भूत के पांच-पांच रूप बतला कर योगी उन पर किस प्रकार जय प्राप्त करता है, यह सब हम विस्तार से समझा चुके हैं। भूतजय की साधना करने वाला योगी प्रकृति के प्रत्येक विश्लेषण पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी का परिणाम होता है कि भूत-जय प्राप्त कर लेने के बाद योगी को अणिमा-महिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशत्व-वशित्व एवं यत्रकामावसायित्व आदि-आदि ऐश्वर्य उसको स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। पढ़िये, भगवान पतंजलि देव का आदेश :—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।

इसके साथ ही पढ़िये इस सूत्र पर व्यास-भाष्य :—

तत्राणिमा भवत्यणुः । लघिमा लघुर्भवति । महिमा महान् भवति । प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम् । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके । वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम् । ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे । यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम् । न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति कस्मात् अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति । एतान्यष्टावैश्वर्याणि । कायसम्पद्वक्ष्यमाणा । तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति नाग्निरुष्णो दहति न वायुः प्रणामी वहति अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ।

अणिमा—

अणिमा सिद्धि का अर्थ है—योगी का अणु जैसा बन जाना। अर्थात् स्थूलकाय योगी, भूतजय संयम के फलस्वरूप अपने आपको

अणु के रूपमें परिवर्तित कर लेता है, इसी का नाम अणिमा सिद्धि है।

लघिमा—

लघिमा सिद्धि का अर्थ है स्थूलकाय से योगी अपने आपको हल्के से हल्का बना ले। जिस प्रकार से ब्रज में तृणावर्त राक्षस के आने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने आपको इतना हल्का बना दिया कि तृणावर्त राक्षस उनको रुई के मानिन्द उड़ाकर आकाश में ले गया और आकाश में ही उनके द्वन्द्व-युद्ध के आघात से मर कर जमीन पर गिर पड़ा। श्री बालकृष्ण उसकी छाती पर आनन्द से खेल रहे थे। यह सब उनकी स्वतः सिद्ध लघिमा सिद्धि का प्रभाव था।

महिमा —

महिमा-सिद्धि का अर्थ है योगीका अपने आप को महान से महान बना लेना है। देखने वाले देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि इनका यह महान रूप कैसे और कहां से हुआ। इस विषय में भी भगवान श्रीकृष्ण का अर्जुन को अपना महान विश्वरूप दिखलाना एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसको देखकर अर्जुन जैसा वीर भी भयभीत हो गया था और उसने हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक कहा था—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशोद्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥

अर्थात् हे प्रभो! यह उचित है कि तुम्हारी कीर्ति को सुन करके जंगत हर्षित होता है और दिग्पाल लोग डरे हुए दिशा-प्रदिशाओं को दौड़ रहे हैं। सभी सिद्ध लोग आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह था उनकी महान महिमा का प्रभाव।

प्राप्ति—

प्राप्ति-सिद्धि का अर्थ है—योगी अपनी इच्छापूर्वक चन्द्रमा को भी स्पर्श करने की ताकत रखता है।

प्राकाम्य—

प्राकाम्य सिद्धिका अर्थ है—इच्छानभिघात अर्थात् योगी जैसा संकल्प करे वैसा ही हो जाय, इसी का नाम इच्छानभिघात है अर्थात् योगी चाहे जमीन में डूब जाय और जिस प्रकार मनुष्य जल में डूब करके जल में से निकल आया करता है उसी प्रकार जमीन में से भी निकल आये।

वशीत्व—

वशीत्व सिद्धि—अर्थात् योगी का पंचमहाभूतों में और महाभूतों के कार्यों में पूर्ण अधिकार होना। यही वशत्व सिद्धि कहलाती है। योगी सबको अपने वश में रखता है किन्तु वह स्वयं किसी के वश में नहीं रहता। यही इस सिद्धि का वशीत्व गुण होता है।

ईशित्रीत्व—

ईशित्रीत्व-सिद्धि का अर्थ है-पंच महाभूतों और महाभूतों के कार्यों पर योगी पूर्ण आधिकार होना। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति एवं

विनाश की भी ताकत होना ईशित्व-सिद्धि कहलाती है।

यत्र कामावसायित्व—

अर्थात् सत्य संकल्प होना। योगी जो-जो भी संकल्प करे उसका पूर्ण होना ही यत्र कामावसायित्व कहलाता है, किन्तु ऐसा हो जाने पर भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के सृष्टि नियम के विरुद्ध योगी कोई संकल्प नहीं करता क्योंकि सृष्टि क्रम में पूर्ण सिद्ध ईश्वर संकल्प है। अतः ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध योगी कोई अपना संकल्प नहीं किया करता।

यह योगियों का अष्ट विध ऐश्वर्य है जिसको प्राप्त करके योगी आप्त तृप्तात्मा बन जाता है। उसका प्रकृति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है।

ऊपर के सूत्र में कहा गया है:—

कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च

काया की सम्पत्ति क्या है—इसका वर्णन इसके अगले सूत्र में भगवान पतंजलि देव बतलायेंगे किन्तु पंच महाभूतों के कार्य योगी के रास्ते में रुकावट नहीं होते। वह यथेच्छा गति से जो भी कुछ चाहे कर सकता है। जैसे—योगी के मन में विचार आया कि मैं पृथ्वी में प्रवेश करूँ तो पृथ्वी उसकी इस इच्छा को रोक नहीं सकती। पृथ्वी के कठोरतम भाग पाषाण आदि में भी योगी निर्विघ्न प्रवेश कर सकता है जल का गीलापन उसको गीला नहीं कर सकता। अग्नि की उष्णता उसको जला नहीं सकती। परिणामी वायु उसको उड़ा नहीं सकती, अनावरण आकाश भी उसके आवृत होने में बाधा नहीं डालता। अनावृत आकाश में भी वह अपने रूपको ढक लेता है वह सिद्धों के लिए भी अदृश्य हो जाता है। इससे आगे के जिस सूत्र में भगवान पतंजलि देव योगी की कायसंपत्‌का वर्णन करते हैं वह इस प्रकार है:

रूपलावण्यबलवज्र संहननत्वानि कायसंपत्।

इसी सूत्र पर व्यास जी भाष्य करते हैं—

दर्शनीयः कान्तिमान् अतिशयबलो वज्र संहननश्चेति।

अर्थात् सुन्दरतम या अतिशय कान्तिमान होना अतिशय बल का धारण करना, वज्र के समान अभेद्य अछेद्य होना यह योगी के शरीर का ऐश्वर्य है। भूतजयी योगी इस महान ऐश्वर्य को प्राप्त करके सब प्रकार से बलशाली एवं कृतकृत्य हो जाया करते हैं। किन्तु आवश्यकता है इस बात की है कि योगी को संयम बल पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ हो। जिनकी आधार भित्ति सुदृढ़ है एवं अपने धारणा, ध्यान समाधि के अभ्यास में सुदृढ़ता के साथ परिपक्व अभ्यास वाले बने चले आते हों तो उनका संयम बल भी परिपक्व हो जाता है और वे इस विपुल ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया करते हैं।

शिशिर-ज्योत्स्ना

[श्री सत्येन्द्र यादव जखेरा, एटा]

है विमूर्च्छित दृग,
अपरिमित व्योम का विस्तार प्रतिपल,
नील-मरकत-पुञ्ज में
अभिसारिका-अंचल-प्रचंचल ।

पाणि में ले मणि-चषक,
मादक, मधुर, मकरन्द पूरित,
रक्त-पंकज से युगल दृग
हो रहे हैं मद विघूर्णित ।

सघन-कोमल-कुन्तलों को
रंजित-अवगुण्ठन छिपाये,
अधखिले-चम्पक मुकुल
निज कृष्ण-वेणी में लगाये ।

श्वास में मधुमय-सुरभि,
आलोक मय-मृदु-गात नूतन
कण्ठ-वीणा से निकलती
है नवल-झंकार प्रतिक्षण

चकित, प्रमुदित, दृग युगों से
हेरती प्रिय-पथ निरन्तर
प्रिय-मिलन की कामना ले
अवसर अन्तर-अम्बर पर

प्रणय की मादकता, मधुर
अनुभूतियों से दीप्त प्रतिपल
मुग्ध मलयानिल उड़ाता
है नवल-कौशेय-अंचल ।

स्वप्न-पंखारूढ़-मन है
कर रहा उन्मुक्त विचरण
नीड़ में दृग मूँद बैठे,
हैं सकल-चंचल-विहग-गण ।

मैं लिये तन्द्रिल नयन
पैठा हुआ नीरव विजन में,
मूँद दृग संसृति निखिल
करती विहरण स्वप्न-वन में ।

आज मेरी चेतना को
वेदना झकझोर जाती
आत्म-छलना किन्तु फिर भी
दे थपकियाँ है सुलाती

कौमुदी की मुस्कराकर
अभिनव यवनिका को हटाकर,
झाँकती सुषमा तुम्हारी
नील-नभ में आज प्रभु वर ।

विश्व का कण-कण यथाविधि
है प्रतिच्छाया तुम्हारी
दो प्रभो आलोक-कण
हो दीप्त भव-रजनी हमारी

अध्यात्म विद्या गणित तुल्य सिद्ध शास्त्र है

[श्री स्व. बलवन्तराव उर्फ भैया साहब शिंदे के विचार]

[श्री भैया साहब शिंदे ग्वालियर के राजघराने के ऐश्वर्य युक्त वातावरण में जन्म लेकर भी सत्ता और वैभव से उदासीन रहकर साधना और आराधना का जीवन व्यतीत करते रहे। आपके अद्भुत आध्यात्मिक विचारों की शृङ्खला में उपरोक्त शीर्षक से कुछ विचार हमें अध्यात्म निकेतन ग्वालियर के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं जिन्हें 'सिद्धयोग' के पाठकों की सेवा में हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। सं० सम्पादक]

अध्यात्मविद्या के सम्बन्ध में बहुत से लोगों के ऐसे विचार हैं कि यह कोई प्राचीन कथा अथवा कल्पित कादम्बरी है, जब कोई धन्धा न होतो इसी को गाथा मनोरंजन के हेतु श्रवण करने को अच्छी है, वस्तुतः यह कोई उपयोगी शास्त्र नहीं है, यदि हो भी तो सतयुग द्वापर के मनुष्यों के उपयुक्त होगा, अब तो कोरी दन्त कथा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जो शास्त्रों में शास्त्र-शिरोमणि है और विद्याओं में महाविद्या है, जिससे जीते जी नर का निर्भर होता है, सुख प्रतिगम बढ़ता है और जीव को मोक्ष पद मिलता है उसके सम्बन्ध में लोगों के ऐसे विपरीत विचार हों। भारतखण्ड व यूरोप देश के अनेक शास्त्रोंसे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य को अणु रेणु मात्र का भी पूर्ण ज्ञान नहीं है, तब चैतन्यरूपी जीव की शक्तियों का पूर्ण ज्ञान कैसे हो सकता है? ऐसी स्थिति में कहना कि मनुष्य में अध्यात्म विद्या वर्णित बातें उत्पन्न न होंगी, सिद्ध शास्त्रों के विरुद्ध है। जैसे भाप किंवा विद्युत जिनके प्रयोग से अनेक प्रकार के यन्त्र चलते हैं तब चैतन्यरूपी मनके किंवा प्राणापानादिक वायुओं के प्रयोग से यदि कोई विलक्षण शक्ति उत्पन्न होवे तो क्या आश्चर्य की बात है, परन्तु महत् आश्चर्य तो यह है कि जड़ पदार्थों की शक्ति पर तो विश्वास करते हैं और चैतन्य शक्ति पर हम विश्वास नहीं करते। राजकार्य धुरन्धर मनुष्य इतने दूरदर्शी हो जाते हैं कि सौ बरस के अनन्तर किस राज्य की क्या स्थिति होगी आज ही लिख देते हैं, वैद्य रोगी के लक्षणों से ही कहते हैं कि इतने काल तक इसका शरीर रहेगा, फिर मन के लक्षणों से कोई भविष्य वर्णन करे तो इसमें क्या असाधारणता है? कोई मनुष्य पांव में साधारण पीड़ा होने पर यदि मनको दृढ़ करे तो दो कोस जा सकता है फिर जिसका मनको दृढ़ कर लेने का अधिक अभ्यास है उसे शरीर रोग की पीड़ा न बाधे तो क्या असम्भवता है किंचित विचार कीजिये कि जितना जगका वैभव दिखाई देता है, वह सब जड़ वस्तु पर मनुष्य की ही चैतन्य शक्ति के प्रयोग का फल है, यदि चैतन्य का चैतन्य पर प्रयोग किया जाय तो क्या नहीं होगा। यह

आत्मविद्या गणित तुल्य सिद्ध शास्त्र है जिसका जी चाहे अनुभव ले देखे। जैसे गणित में दो का गुणनफल निःसंदिग्ध चार ही होगा वैसे ही जो इसके साधन हैं सहस्र बार कर देखो उनका फल यथोक्त ही होगा जैसे भस्त्रा, कुम्भक से कफनाश होता है उष्मा बढ़ता है, वात शमन होता है भ्रामरी कुम्भक से घोर चिन्ता निवारक अनहद का शब्द उत्पन्न होता है, प्रस्वेद आता है मन स्थिर होता है, खेचरी मुद्रा के साधन से दामिनि दमकती है, अनेक नक्षत्रादि दिखाई देते हैं। त्राटकसे विद्युत शक्ति दृष्टिमें बढ़ती है। जिसका एक अंश मैस्मरेजम है और जिसका अनुभव बहुत लोगों को है, इत्यादिक जो बातें जिस साधन से होती हैं वह जो चाहे अनुभव कर देखे बिना चूक होंगी, इसी प्रकार से ध्यान, धारणा, समाधि तक की निःसंशय यही स्थिति है, इससे स्पष्ट है कि अध्यात्म विद्या सिद्ध शास्त्र है, जैसे वैद्य-शास्त्र शरीर की चिकित्सा रोग का निदान और उसकी निवृत्ति का उपाय करके आरोग्यता बढ़ाता है। वैसे ही शास्त्र मन की चिकित्सा उसके रोगों का निदान और उनका परिहार करके अखण्ड आत्म-सुख देता है।

जड़ात्म विद्या अर्थात् व्यवहार शास्त्र जिसकी उन्नति की स्थिति तो विदित विदित है, जैसे दिनों दिन जड़ पदार्थों के शोधन से नाना प्रकारके यन्त्र, तन्त्र, शस्त्र-शास्त्र, वाहन बाद्य, धातु और औषधि इत्यादिक परम उप-योगी और सुखावह पदार्थ व्यवहार शास्त्रज्ञ व कलाकोविद बुद्धिमानों ने प्रकट किये और कर रहे हैं। वैसे ही :

अध्यात्म विद्या की उन्नति—

अध्यात्म साधनों से इस भारत भूमि पर क्या नहीं हुई? क्या-क्या अखण्ड सुख संतोष की सामग्री प्रकट हुई और मोक्ष का अगम पथ कैसे सुगम बना इसका किंचित् वर्णन करते हैं :

समाधि योगसे अजर-अमर होना, परकाया प्रवेश करना, योगांग मुद्राओं के अद्भुत दृश्य (तारों का समूह चिन्मणियोंकी आभा त्रिकुटी पर विद्युत की चमक अनाहत, स्वरूपों का मनोहर दर्शन, अनाहद के चितचोर बाजे दिव्य गंधों का घ्राण, सुषुम्ना का प्रकाश, प्राण के तार का पकड़ना सिद्धियों का समूह मानसिक वृत्तियों का अपूर्व आनन्द) सगुण में भावनाओं का विलक्षण सुख, मोहनी मूर्ति की निहारन प्रेम का अनिर्वचनीय रस वियोगका मोद भरा दाह और संयोगका अवर्णनीय आनन्द इत्यादि यह बिन मोलका अमोल स्वसत्तात्मक सामग्री प्रकट हुई है जिनसे सांस-सांस पर सुख समीर के झोंके, पद-पद पर पुलकित तनुका बात-बात पर गद्गद कंठ, बिना गृह के आराम, बिना संसार-सामग्री के संतोष, बिना धनके समाधान और बिना मित्र के परितोष होता है। इसके सम्मुख भौतिक उन्नति कुछ भी नहीं है।

एक का फल अखंड नित्य निर्बाध सुख है दूसरेका परिणाम केवल क्षणिक इन्द्रिय भोग है।

अनेक धन्यवाद है उन महान् आत्मवान्

सत्पुरुषों को जिन्होंने शिविर में बैठकर तन-मन को वार कर विषय-वासना मार कर अपना सर्वस्व त्याग कर सर्वोपकार के हित नित्य निरुपाधिक आनन्द के भण्डार खोल दिये हैं।

अनन्त शिरसा दण्डवत् प्रणाम है उस सन्त समाज को जिसने अपार दुस्तर भवसागर पार का सेतु बाँधा है, जिसने परमपद के दुर्घट घाट को काट-छांट कर ऐसा सीधा कर दिया है, मानो रेल की पटरी डालकर तार लगा दिया है। चैतन्य रूपी विद्युत प्रयोग से अनेक अगोचर सिद्धरूपी यन्त्र चलाये हैं। रवि-मंडल भेदन करने को प्राण का सन्तुलन (गुब्बारा) प्रकाशित किया है। माया के इन्द्रजाली किले को खोल दिया है। देश, काल व प्रमाण के परे स्वर्ग लोकादिक नगर शोभित किये हैं, इत्यादि अनेक प्रकार से परमार्थ पंथ को सुगम कर दिया है।

—※✿✿※—

❁ आवश्यक-सूचना ❁

(१) बहुधा भाई 'सिद्धयोग' का वार्षिक मूल्य तथा सिद्धयोग सम्बन्धी पत्र-व्यवहार श्री गुरुदेव जी के व्यक्तिगत नाम से भेजते हैं जो श्री गुरुदेव जी के प्रवास में होने के कारण कार्यालय में विलम्ब से प्राप्त हो पाता है कभी-कभी वह इधर-उधर भी हो जाता है ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि सिद्धयोग सम्बन्धी समस्त पत्र-व्यवहार तथा तत्सम्बन्धी रुपया आदि व्यवस्थापक 'सिद्धयोग' श्री सिद्धगुफा सवाई (आगरा के) पते से ही भेजना चाहिए ताकि समय पर यथाविधि कार्यवाही की जा सके।

(२) 'सिद्धयोग' के वर्तमान नवें वर्ष के दिसम्बर ७९ तक के सभी अंक ग्राहक बन्धुओं की सेवा में जांच करके कार्यालय से उनके पते पर भेजे जा चुके हैं। यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक प्राप्त न हुए हों तो वे अपने समीप के डाकघर से पूछकर अविलम्ब हमें सूचित करने की कृपा करें ताकि उन अंकों को हम कार्यालय से पुनः भेजने की व्यवस्था कर सकें।

(३) सिद्धयोग का वार्षिक मूल्य १५ रु० मनी आर्डर द्वारा अग्रिम आना चाहिए वी० पी० से मगाने में ग्राहकों को ही ३-५० अधिक देने होते हैं तथा समय भी अधिक लगता है।

(४) ग्राहक बन्धु पत्र या मनी आर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।

श्रीनाथ शर्मा
व्यवस्थापक
सिद्धयोग
श्री सिद्ध गुफा सवाई (आगरा)

हे परमेश्वर !

हे परमेश्वर !
तू निर्गुण, निराकार, केवल अनिर्वाच्य है।
तेरी महिमा का आकलन हमारा हृदय कैसे करे ?
तुझे हमारी आँखें कैसे देखें ?
तेरा वर्णन हम अपनी टूटी-फूटी वाणी से कैसे करें ?
जहाँ वेद और पुराणों को भी नेति-नेति कहना पड़ा
वहाँ हमारी क्या बिसात ?
लेकिन इसलिए तो तू भक्तों की भावना के वश होकर
हमारे लिए, उदारतापूर्वक,
सगुण, साकार, सुलभ बन गया है।
अब हम अपने हृदय पर
तेरे ध्यान का ओढ़ना ओढ़ सकते हैं।
आँखें भर कर तुझे निहार सकते हैं।
वाणी से तेरा नाम गा सकते हैं।
निर्गुण तो तू है ही,
लेकिन हमारी प्रार्थना है
कि जब तक हमें यह आँखें और यह वाणी प्राप्त है,
तब तक तेरा यही सगुण सुन्दर रूप,
और सर्वोत्तम मधुर नाम,
हमें निरन्तर प्राप्त होता रहे।

—ज्ञानदेव

गीता-दर्शन का व्यावहारिक रूप

[स्व० श्री धर्मदेव शास्त्री]

मेरी शिक्षा का प्रारम्भ गीता से ही हुआ है। अपने जन्म ग्राम अलीपुर में स्वर्गीय पं० लालचन्द जी प्रज्ञाचक्षु के पास मुझे पिताजी ने सर्व प्रथम पढ़ने के लिए बैठाया। पं० लालचन्द्रजी प्रज्ञाचक्षु होने पर भी ग्राम के गुरु थे। उठने से सोने तक करीब १४ घण्टे उनका अध्यापन रहता था। गीता और विष्णु-सहस्र नाम से पण्डित जी ने हमारी शिक्षा प्रारम्भ की। लिखना-पढ़ना तो पण्डितजी के बड़े-बड़े शिष्यों द्वारा अनायास ही मैं सीख गया।

बाल्य-काल के कारण गीता के महत्व को चाहे हम न समझ पाये हों, परन्तु बचपन के संस्कार प्रबल होते हैं। पं० लालचन्द्रजी गीता और विष्णु-सहस्र नामका पुण्य पाठ किये बिना भोजन का अवकाश ही नहीं देते थे। इस प्रकार बचपन में गीता हमें कण्ठस्थ हो गई, बाद में दूसरे विद्यालयों में पढ़ते समय हमारा सम्बन्ध गीता से न रहा, वहाँ का वातावरण ही दूसरा था। यहाँ तक कि काशीमें अध्ययन करते हुए भी हमारा नाता गीता से वैसा न जुड़ पाया। गीता एक धार्मिक ग्रन्थ है, यह बात हमें ज्ञात थी, परन्तु गीता के अन्तरतम् का और ऊँचे स्वरूप का ज्ञान तो हमें सर्वप्रथम सन् ३० के कृष्ण मन्दिर कारागार निवास में ही हुआ। बचपनके संस्कारोंने इसमें पूरा कार्य किया। गीता पर लिखे गये अनेक भाष्य टीका और निबन्ध पढ़े। लोकमान्य के गीता रहस्य से गीता के 'कर्मयोग' परक अर्थ का हमारे हृदय पर अमिट प्रभाव पड़ा। आचार्य शङ्कर का गीता-भाष्य हमने पढ़ा है और पढ़ाया भी है। परन्तु उसके अर्थमें हमें साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का आभास हुआ, लोकमान्य पर भी शंकर का अमिट प्रभाव है। गीता-रहस्य में सांख्य और योग को दो पृथक मार्गों का निरूपण करके एक प्रकार से लोकमान्य ने आचार्य शङ्कर के मत का समर्थन कर ही दिया है। अन्तर यह है कि लोकमान्य दोनों मार्गों को अन्त तक पृथक् मानते हैं तथा सांख्य तथा संन्यास-निष्ठा की अपेक्षा कर्मयोग को उत्कृष्ट बताते हैं, परन्तु शंकराचार्य दोनों को अन्त तक पृथक् मार्ग न मानकर अन्तिम मार्ग संन्यास को मानते हैं, कर्मयोग को प्रधान मार्ग तक पहुंचने का साधन ही मानते हैं। हमारा विनम्र मत है कि गीता में एक ही निष्ठा अथवा प्रधान मार्ग वर्णित है और वह है कर्मयोग। अर्जुन ने भगवान् से एक ही निश्चित उत्तर मांगा है, "तदेकं वद निश्चित्य" मुझे एक ही निश्चित

बात कही, भगवान् ने भी उसे निश्चित ही उत्तर दिया है। गीता के तृतीय अध्याय के आरम्भ में आये—"द्विविधा निष्ठा" शब्दों से दो निष्ठाओं का बोध नहीं होता, बल्कि उससे तो यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि निष्ठा एक है, उसके प्रकार अथवा पहलू दो हैं, जैसे सिक्के के दो पहलू अथवा पार्श्व होते हैं। गीता प्रवक्ता ने तो अर्जुन के समक्ष भगवान् का ही आदर्श रखा है, भगवान् तो कभी भी कर्म नहीं छोड़ता। यदि वह छोड़ दे तो प्रलय हो जाये। प्रलयकाल में भी यदि प्रभु कार्य छोड़ दे तो असमय पर प्रलय और सृष्टि का संहार होने लगे, जगत् का व्यापार ही बन्द हो जाये।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
ममवर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहं,
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।

गीताके प्रथम श्लोकका उत्तरार्द्ध विचार-णीय है। इसमें गीताकार ने स्वीकार किया है कि मनुष्य सर्वथा भगवान् का ही अनुसरण करते हैं, इन श्लोकों केपूर्व के श्लोकमें भगवान् ने कहा है कि जो कार्य श्रेष्ठ व्यक्ति करते हैं, साधारण लोग उसी का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार भगवान् को ही आदर्श बनाकर कार्य करने का आदेश गीताकार ने दिया है। भगवान् आप्तकाम और आत्मकाम हैं, उसे किसी भी पदार्थ की, सिद्धि की कामना नहीं है फिर भी वह कार्य कर रहा है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं,
त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं,
वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता)

मानवता की पराकाष्ठा यदि ईश्वरत्व-प्राप्ति मानी जाय तो भी मानव को कर्म से संन्यास लेने का अधिकार नहीं, यदि वह कर्तव्य से छूटता है तो आध्यात्मिक दृष्टि से पाप करता है, बुरा आदर्श उपस्थित करता है। सब ईश्वर के कार्य के निमित्त मात्र हैं। ईश्वर ने जिस कार्य के लिए हमें जन्म दिया है हम वही करें, उसके साधन बन जायें, यही है गीता का अमर सन्देश। यह मान लेना कि भगवान् का निमित्त बनने की अब हमें आव-श्यकता नहीं। मिथ्याहङ्कार है और यह सम-झना कि ईश्वर को हमें निमित्त बनाकर जो कार्य करना था वह पूरा हो चुका और हमें अब कर्म से मुक्ति मिल गई है, मिथ्या ज्ञान है। जब ईश्वर किसी को अपने कार्य का निमित्त नहीं समझेगा, जब उसे किसी से कार्य लेने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी, वह उसे उठा लेगा, अपने पास बुला लेगा या वहां भेज देगा जहां उससे कुछ कार्य लेना होगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां,
हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,

भ्रामयन् सर्वभूतानि,
यंत्रारूढानि मायया ।
तमेव शरणं गच्छ
सर्वभावेन भारत,
तत्प्रसादात् परां शान्ति
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्
निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन् ।

(गीता)

तो संन्यास क्या है ?

कर्म करते-करते जब मनुष्य के संकल्प में बल आ जाता है, अर्थात् भौतिक और बाह्य दृष्टि से कार्य न करता हुआ भी मनुष्य अपने अनुभव ज्ञान और संकल्प बल के आधार पर वह दूसरों को कर्मों में प्रवृत्त करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, तो वह संन्यासी कहलाता है। राजा जनक की मिथिलापुरी में जब आग लगी तो जनक उद्विग्न नहीं हुए, स्वयं बाल्टी लेकर घबराकर वह आग बुझाने में भी नहीं लग पाये, अपितु अपने कर्मचारियों को स्वयं आसन पर बैठे-बैठे समझाते रहे और कर्म में प्रवृत्त करते रहे, यदि जनक स्वयं बाल्टी लेकर आग बुझाने जाते तो उसके सेवक मिथिला को बचाने की अपेक्षा राजा जनक को ही बचाने में लग जाते। परिणाम यह होता कि मिथिला जल जाती। राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने का और स्वयं बाह्य दृष्टि से कर्म न करने पर भी करने का धर्म और संन्यास का मिश्रित रूप राजा जनक के जीवन में स्पष्ट दीखता है। गीताकार ने कहा है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः

महाबाहो! संन्यास भी बिना योग के प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् संन्यास लेने या करने की वस्तु नहीं। कर्म करते-करते जब मनुष्य के संकल्प में बल आ जाता है, तब वही स्वतः संन्यासी बन जाता है। दूसरे शब्दों में, कर्मयोगी की अन्तिम स्थिति ही संन्यास है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि संन्यासी कर्म छोड़ देता है, क्योंकि छोड़ना या लेना मनुष्य के हाथ की बात नहीं, वह निमित्त मात्र है। तात्पर्य यह है कि धीरे-धीरे कर्म करने की अभ्यास शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म बनती जाती है। यदि आज की व्यावहारिक भाषा में कहें, तो कर्मयोगी की स्थिति कार्यकर्ता की है, तो संन्यासी की स्थिति नेता की है, परन्तु यह नेतृत्व इच्छा से अथवा जबरदस्ती से नहीं मिलता, बल्कि स्वतः कर्म की शक्ति से मिलता है। बाह्य कर्मों को छोड़ देने से या भगवा रँग कर अग्निहोत्रादि को छोड़ देने से संन्यासी नहीं हो सकता। आज इस प्रकार के लाखों संन्यासी जो देश में हैं वह गीता के अनुसार न संन्यासी हैं और न ही कर्मों से मुक्त हैं।

अनाश्रितः कर्मफलं
कार्यं कर्म करोति यः,
स संन्यासी च योगी च
न निरग्निर्न चाक्रियः ।

(गीता ६/१)

योगका अर्थ सम्बन्ध करना है और संन्यास का अर्थ है त्याग अथवा वियोग, भूल से आज यह समझ लिया गया है कि योग का अर्थ है कर्म को छोड़ देना। गीताकार तो इन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं समझते, पृथक्-पृथक् समझने वालों को गीता ने बालक मूर्ख कहा है—

सांख्य योगौ पृथग् बाला
प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकं सांख्यं च योगं,
च यः पश्यति सः पश्यति ॥

यह ठीक है कि संन्यास का अर्थ है त्याग छोड़ना, नाता तोड़ना, परन्तु छोड़ना कर्म को नहीं, संकल्प को छोड़ना ही संन्यास है। फल की इच्छा का त्याग ही संन्यास का शब्दार्थ है।

नहि देह भृता शक्यं
त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः,
यस्तु कर्म फल त्यागी
सन्यासीत्यभिधीयते ।

गीता में त्याग और संन्यास, त्यागी और संन्यासी समानार्थक हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च
त्रिविधं कर्मणः फलम्,
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न
तु संन्यासिनां क्वचित् ।
(गीता १८/१२)

इस श्लोक का अत्यागी के विरुद्ध संन्यासी शब्द का प्रयोग ही उक्त बात का प्रमाण है। स्पष्ट ही गीताकार ने सात्विक त्याग से कर्म फल त्यागपूर्वक कर्म करने का अभिप्राय लिया है।

कार्यमित्येव यत्कर्म
नियतं क्रियतेऽर्जुन,
संगं त्यक्त्वा फलं चैव
स त्यागः सात्विको मतः ।
(गीता १८/९)

इतना ही नहीं गीता ने तो कर्म त्याग को तामस अथवा राजस त्याग कहा है।
(गीता १८, ७-८)

कर्म त्याग असम्भव है, १८-११ उचित भी नहीं १८-७।

१८वें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने संन्यास और त्याग इन दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ पूछा है।

संन्यासस्यमहाबाहो,
तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश,
पृथक्केशिनिषूदन ॥
(१८-१ अ०)

उत्तर में भगवान् ने कहा है—संन्यास का अर्थ है उन कर्मों का त्याग जो बिना कामना के नहीं किये जा सकते हैं और त्याग से अभिप्राय है, सब कर्मों के फल का त्याग।

काम्यानां कर्मणां न्यासं
संन्यासं कवयो विदुः,

सर्वकर्मफल त्यागं
प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।
(१८-२ अ०)

जो कर्म कामना के बिना किये ही नहीं जा सकते उनको छोड़ देना चाहिए। बुरे कर्म वही हैं जो बिना कामना के किये ही नहीं जा सकते, जैसे चोरी, व्यभिचार आदि। इससे इतना ही स्पष्ट हो जाता है कि संन्यास का अर्थ सर्व कर्म त्याग नहीं। गीता का सबसे प्रिय मुझे श्लोक यह लगता है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां,
येन सर्वं मिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य,
सिद्धिं विंदति मानवः ॥

इसमें आये हुए 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' शब्द ध्यान देने योग्य है, ईश्वर की पूजा अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही है।

ज्ञान कर्म और भक्ति —

गीता कोई साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं समन्वय और व्यावहारिक दृष्टिकोण बताना ही गीता का लक्ष्य है। ज्ञान कर्म और भक्ति को पृथक्-पृथक् समझ कर जितना वाद-विवाद दार्शनिक जगत् में हुआ है। गीताकार ने इन तीनों में अद्भुत समन्वय किया है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षण में कहा है, "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, नचा युक्तस्य भावना" बिना कर्मयोगी के बुद्धि और ईश्वर का विश्वास प्राप्त नहीं होता। भक्तियोग नामक १२वें अध्यायमें (१२-११, १२) सर्व कर्म फल त्याग को ध्यान से भी श्रेष्ठ बताया है। १३वें अध्याय में (१३-१०) भगवान् की अनन्य भक्ति को भी ज्ञान के ही लक्षण में लिया है। चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षण में ईश्वर भक्त को ही गुणातीत बनने का प्रधान कारण बताया है। गीता के अनुसार गुणातीत स्थित प्रज्ञ और भक्त व्यवहारमें एक समान ही है। इस प्रकार गीताकार ने सांख्य वेदान्त और योग तीनों दर्शनों में अद्भुत समन्वय किया है। गीताकार को केवल शाब्दिक चर्चा पसन्द नहीं—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते

योग का जिज्ञासु भी केवल शाब्दिक ब्रह्मचर्चा करने वालों से श्रेष्ठ है। किसी भी प्रकार के विचार की कसौटी कर्म में है, इस दृष्टि से गीताकार ने मानव जाति को केवल शब्दों के क्षेत्र से हटाकर कर्म के चौड़े क्षेत्र में आने का निमन्त्रण दिया है। बाह्य दृष्टि से कर्म त्याग करके विषयों के मानसिक महल खड़े करने वालों को गीता ने ढोंगी कहा है।

सन्तुलन की कमी—

कर्मयोग का अर्थ गीताकार ने "समत्वं योग उच्यते" समाप्त किया है। जन्म के साथ ही मनुष्य को विभिन्न स्थितियों में से गुजरना पड़ता है। मनुष्य स्वयं ही शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा के योग से बना है। फिर परिवार

समाज, देश, मानव जाति, इहलोक, परलोक सबके प्रति उसके कुछ कर्तव्य हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय तथा सन्तुलन रखना ही कर्मयोग है। भोग और त्याग, घर और समाज, एकान्तवास और सार्वजनिक सेवा, लोक और परलोक आदि विरोधी प्रतीत होने वाली स्थितियों में समत्व बनाये रखकर जीवन-संग्राम में विजयी बनाने का यह कौशल ही कर्मयोग है। चाहे कोई कितनी अच्छी बात हो, परन्तु सन्तुलन के बिना उसकी भी अति हानिकारक होती है। हमारे शरीर में नासिका का सौन्दर्य में प्रमुख स्थान है, परन्तु नाक का भी बढ़ना एक रोग ही है, सर का बढ़ना तो बुरा लक्षण माना जाता है। भारतीय समाज के भी पतन का यही बड़ा कारण है। हमने लोक की ओर से ध्यान मोड़ लिया, मोक्ष, स्वर्ग और परलोक के लिए ही सब कुछ करने लगे। परिणाम यह हुआ, इस लोक को भूल गये, जिससे हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बना दिया और जो कभी स्वर्ग था उसी भारत देश को नरक बना दिया। इसके विपरीत जो लोग अपने निजी स्वार्थ और इस दुनिया के भोग-विलासों के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं, वो नहीं देख रहे कि इस दुनिया के बाद भी और कुछ है, आज का अविरत विश्व युद्ध उन्हीं के इन दूषित विचारों का ही परिणाम है। तराजू के पलड़ों के समान जीवन को सदा तोलकर कार्य करो, सदा सावधान रहो, जीवन में विषमता मत आने दो और जागरूक रहो, अपने आपको ईश्वर के हाथों में सौंप दो, यही गीता का उपदेश है। गीता का आविर्भाव तब हुआ जब देश में ज्ञान की अति चर्चा होती थी, कर्म का अर्थ केवल यज्ञ-याग करना ही समझा जाता था और ज्ञान का अर्थ था घरबार छोड़ देना। गीताकार ने यज्ञ, ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति इन शब्दों को बहुत व्यापक अर्थ देकर व्यवहार में सबको समानार्थक बताया है।

कर्म से भागने की मनोवृत्ति—

कई सदियों से मानव जाति का दर्शन बहुत दूषित हो गया है। मनुष्य ने आज जो भी आविष्कार किये हैं तथा अब जो भी उन्नति की है, उसके मूल में—समाज व्यवस्था में हो—कर्म से बचने की मनोवृत्ति काम कर रही है। कम से कम काम करके अधिक से अधिक लाभ उठाने की यह मनोवृत्ति ही अब जातियों और राष्ट्रों के बीच युद्ध करने का कारण है। इसी के कारण ही साम्राज्यवाद और साम्प्रदायिकता को पोषण मिला है। हमें तो स्पष्ट दीखता है कि यदि मानव जाति का यह दर्शन न बदला तो मनुष्य पुनः बर्बर स्थिति में पहुँचेगा, तब सबसे कुछ कार्य न करके डाके डालना ही कार्य होगा। अधिकार की चर्चा बहुत होती है, कर्तव्य की ओर कोई ध्यान नहीं देता। परिणाम यह है कि अपनी असफलता का कारण अपने में न देखकर दूसरों में देखने के अभ्यासी हो गये हैं। यह बुराई मनुष्य के हृदय में बहुत दूर तक गई है।

तो क्या मनुष्य का कोई अधिकार नहीं? गीताकार ने कहा है—

कर्मण्येव अधिकारस्ते

कर्म करना ही मनुष्य का अधिकार है फल के बारे में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है, आज विपरीत स्थिति है। फल का अधिकारी सभी अपने आपको कहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए कर्म करने का अधिकारी सभी दूसरों को बनाना चाहते हैं, परन्तु दूसरों के श्रमसे लाभ उठाने की अथवा शोषण की यह अप्राकृतिक दशा स्थिर नहीं रह सकती, बदलेगी और बदल रही है। हमारे विचार में आज के संक्रान्ति काल में ही गीता के सन्देश को सुनाने का स्वर्ण अवसर है। महाभारत संग्राम के समय जो उपदेश अर्जुन को सुनाने का अवसर था, वह अवसर आज सारी मानव जाति के सम्मुख उपस्थित है। आज मानव का जीवन अप्राकृतिक और असुन्दर बन रहा है। कर्म में श्रम में ही आनन्द है, सौन्दर्य है, फल की इच्छा न करने से जीवन में मिठास है। यह बात अनुभवी ही समझ सकते हैं। यदि तुम अपने श्रम का मूल्य समझते हो, तो यह भी समझ लो कि दुनियां को भी यह अधिकार है कि वह आपके श्रम का कम मूल्य आंके, परन्तु आप इस बात को पसन्द नहीं करते हैं। बस यहीं से राग-द्वेष का जन्म होता है। जो एक व्यक्तियों से यह राग-द्वेष जातियों और राष्ट्रों में फैलते हैं, जो बाद में विश्व-युद्ध का रूप धारण कर लेते हैं। क्यों न इस स्थिति को जड़ से ही बदल दिया जाय। विजयी बनने की अमोघ शक्ति प्राप्त करने के लिए ही सब युद्ध होते हैं। शक्ति प्राप्त करना मनुष्य इसलिए चाहता है कि वह दूसरों के श्रम से स्वर्ग-फल प्राप्त करे। कर्म न करके फल प्राप्त करने की यही इच्छा आसुरी भावना की जननी है, अनेकों राक्षसों को न मारकर उसी एक को ही मारो—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।

(गीता)

सत्य–योग

सुसत्य का आधार, सुस्थिर व कड़ा होता है,
असत्य का आधार, अनस्थिर व सड़ा होता है।
सत्यासत्य का जो मर्म समझता मानव,
वही समाज में पूजित व बड़ा होता है॥

—गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

वीर्य-रक्षण के कुछ उपाय

[वेद-व्याख्याता श्री पं० दामोदर सातवलेकर]

१. पवित्र संकल्प—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः

यह मनुष्य विश्वास रूप ही है। जैसा जिसका विश्वास होता है वैसा ही मनुष्य बनता है। परमात्मा, अपनी आत्मा, धर्म, पुरुषार्थ आदि पर विश्वास रखना योग्य है; इससे बड़ा लाभ हो सकता है। विश्वास का बल बड़ा है, परन्तु अन्धविश्वास नहीं चाहिए।

अपने अन्दर 'शुभ संकल्प' बढ़ाने चाहिए। शिव-संकल्प करने से पवित्र अवस्था नहीं प्राप्त होती। पवित्र संकल्प ही ऊपर चढ़ने के लिए कारणीभूत होते हैं। यह बात सिद्ध ही है कि हीन विचार होने से अवस्था हीन बनती है, और उच्च विचार होने से उच्च योग्यता हो जाती है। क्योंकि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का वास्तविक कारण मनुष्य का मन ही है। बाह्य कारणों से कभी कोई गुलाम नहीं बन सकता, जैसे अपने मन के कारण बन सकता है। ब्रह्मचर्य का संरक्षण करने के लिए भी मन के विचार ही कारण होते हैं। मन में पवित्र विचार रहे तो ब्रह्मचर्य रह सकता है और मन में हीन विचारों का आधिपत्य हुआ तो ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है। इसलिए अपने विचार पवित्र करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

अपने विचारों का निरीक्षण और परीक्षण प्रतिदिन दो-तीन बार कीजिए और जिस समय बुरा भाव मन में आ जायगा, उसी समय उसको दूर कीजिये। अपने विषय में संशय न रखिए, पक्का आत्मविश्वास रखिये कि मैं अपने विचार अवश्य ही उच्च करूँगा और उच्च बनूँगा। अपने विचारों का ऐसा बाल निरीक्षण करेंगे, उच्च विचारों के ग्रन्थ पढ़ेंगे, श्रेष्ठ पुरुषों का सहवास करेंगे, तो निःसन्देह आप श्रेष्ठ बनेंगे।

प्रातः काल उठते ही मंगलमय परमात्मा का ध्यान कीजिये और उसे अपने हृदय में विराजमान देखिये। सवेरे से ही अपने अन्दर प्रसन्नता, शान्ति, आनन्द और उत्साह आदि गुण धारण कीजिये, यदि आप दृढ़ प्रयत्न करेंगे तो आपका स्वभाव ही अत्यन्त प्रसन्न बन जायगा और कष्ट के समय में भी आपके चेहरे पर हास्य दिखाई देगा। इसलिए ऐसा प्रयत्न आप कीजिये।

भोजन के समय क्रोधादि विकार दूर रखिये। यदि आपको क्रोध आता है, तो उस समय भोजन न कीजिए। भोजन के समय आनन्द, उत्साह और शान्ति से युक्त मन चाहिए। क्रोधादि दुष्ट विकार के समय किया हुआ भोजन पचन नहीं होता और अनेक रोग उत्पन्न करता है। क्रोधी मनुष्य शीघ्र ही मर जाता है, इसलिए क्रोधादि शत्रुओं को अपने पास आने नहीं देना चाहिए। यदि आप प्रयत्न करेंगे, तो निःसन्देह एक मास में अपना स्वभाव बदल सकते हैं। प्रयत्न करके देखिये। चित्त की प्रसन्नता रखने से ब्रह्मचर्य रह सकता है। क्रोधादि विकारों के कारण वीर्यनाश होना सम्भव है।

सोने के समय तो अवश्य शुभ विचारों के साथ सोना चाहिए। क्योंकि जो विचार निद्रा के प्रारम्भ में रहेंगे, वे ही निद्रा की समाप्ति तक रहते हैं, इसलिए बुरे विचारों का सान्निध्य इतने समय करना योग्य नहीं। सोने के समय आरोग्यपूर्ण और बलवान विचार मनमें रखिये, सामर्थ्यशाली परमात्मा का स्मरण करते-करते सो जाइये। पक्का विश्वास रखिये कि, स्वप्न आदि दोष मुझे सतायेंगे नहीं, और मैं पूर्ण बलवान् अवश्य बन जाऊंगा। जैसे आपके ख्याल होंगे, वैसा ही आपको अनुभव आ जायगा। आपका मन ऐसा प्रभावशाली है कि, यदि आप पूर्ण निश्चय करेंगे कि, मैं ४। बजे उठूंगा, तो निःसन्देह घड़ी न देखते हुए ठीक ४। बजने के समय आपकी आँखें खुलेंगी। इतना प्रभावशाली मन आपके पास है, इसलिए आप न डरें और धैर्य से अपने सुधार का उपाय कीजिये, तात्पर्य ब्रह्मचर्यादि व्रत साधन करने के लिए सुविचार पास रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए वेद कहता है कि—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

(ऋग्वेद १/८९/८)

"हे देवो ! कानों से अच्छे कल्याणमय विचार सुनेंगे, आँखों से अच्छे पदार्थ देखेंगे, और दृढ़ अवयवों से युक्त बलवान् शरीर से अपनी आयु की समाप्ति तक हम श्रेष्ठों का हित ही करेंगे।"

तात्पर्य यह कि हम अपनी सब इन्द्रियों को अत्यन्त शुभ कर्मों में लगायेंगे और अपना "वायु मण्डल" पवित्र, शुद्ध, शुभ और मंगलमय करेंगे। ऐसा करने से ही अपना अभीष्ट सिद्ध होगा। अपने आपको आत्मस्वरूप शरीर से भिन्न और शरीर का संचालक समझकर इस अपने अधिकार की भावना सदा जीवित और जागृत रखनी चाहिए। ऐसा करने से सुगम रीति से ब्रह्मचर्य की सफलता होती है।

२. मातृभाव की दृष्टि—

स्वस्त्री को छोड़कर अन्य स्त्रियों की ओर

देखने की जो पवित्र दृष्टि होती है, वह धार्मिक दृष्टि कहलाती है। छोटी उमर वाली स्त्री को देखने के समय "पुत्री भाव की दृष्टि" धारण करनी योग्य है। अपने समान आयु वाली स्त्री को देखते समय "बहिन-भाव की दृष्टि" धारण करनी चाहिए, तथा अपने से बड़ी उमर वाली स्त्री की ओर देखने के समय "मातृभाव की दृष्टि" धारण करनी चाहिए। यही धर्म है। "परस्त्री मातृ समान" समझना चाहिए, अन्य भाव धारण करना योग्य नहीं है। ब्रह्मचर्य धारण करना है, तो इस दृष्टि का अवलम्बन करना अत्यन्त आवश्यक है।

जो पूर्ण ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं, वे स्त्री की ओर दृष्टिक्षेप नहीं करते और किसी समय देखना पड़े, तो उस स्त्री को माता समझकर ही देखते हैं। इससे ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाता है। जो भाव पुरुषों का स्त्री के विषय में धारण करना चाहिए, वैसा ही पवित्र भाव स्त्रियोंको पुरुषोंके विषयमें धारण करना चाहिये अर्थात् अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुषों की ओर देखने के समय आयु की अवस्था के अनुकूल "पितृभाव, भ्रातृभाव अथवा पुत्र भावकी दृष्टि धारण करके ही देखना उचित है। इस प्रकार स्त्री पुरुष परस्पर व्यवहार करने लगें, तो श्रेष्ठ और पवित्र वायु मण्डल शीघ्र ही बन सकता है। प्रत्येक स्त्री राष्ट्र की माता है। इसलिए मातृ दृष्टि से स्त्रियों की ओर देखना उचित और योग्य भी है। जब इस प्रकार दृष्टि पवित्र बनेगी, तब विचार और आचार भी पवित्र बन सकते हैं।

३. कु-दृश्य-त्याग—

बुरे दृश्यों की ओर देखना नहीं चाहिये। पशु पक्षियों के बुरे व्यवहार और अश्लील आचार रास्तों पर भी होते रहते हैं। मनुष्य के जाने-आने के समय उसकी दृष्टि के सम्मुख ऐसे बुरे दृश्य आ जाते हैं ऐसी अवस्था में उसको उचित है कि, वह अपनी दृष्टिको वहाँ से हटाकर अन्य शुभ पदार्थ की ओर करे और उस शुभ पदार्थ का ही विचार करे। फूल, फल वृक्ष, पर्वत, नदी आदि पर अपनी दृष्टि रखे और बुरे दृश्य पर अपनी दृष्टि न रखे। ऐसा करने से बुरे दृश्य का परिणाम नहीं होगा।

स्त्री-पुरुषों के अंगों की ओर बुरी भावना के साथ कदापि देखना योग्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि, किसी समय अपनी दृष्टि ऐसे बुरे दृश्य में न गिरे और सदा अच्छे शुभ और पवित्र दृश्य ही दृष्टिके सामने रहें, ऐसा करने से दोष दूर सकते हैं।

४. सीधा-सादा रहन-सहन—

यदि ब्रह्मचर्य रक्षण करने की इच्छा है तो जैसा मन पवित्र रखना चाहिए वैसा ही शरीर और वाणी भी पवित्र रखनी चाहिए। कायिक वाचिक और मानसिक पवित्रता रखना ही ब्रह्मचर्य है। 'सीधासादा रहन-सहन और उच्च विचार करना' आवश्यक है। खाने-पीने में,

कपड़े-लत्तों में चैन, ऐश आराम करने की प्रवृत्ति से बड़ी ही हानि होती है। कपड़े बिल्कुल सीधे सादे विशेषतः अपने हाथ के सूत के बने हुए हों तो बहुत ही अच्छा होगा। खाने पीने के पदार्थ भी पवित्र, स्वच्छ और पौष्टिक हों, परन्तु उसमें चटपटे नमकीन आदि न हों बिलकुल साधारण दाल रोटी सबसे अच्छी है। सादा खाना मन में सादगी ही महापुरुषों का लक्षण है। सीधासादा रहना और भोग-विलाससे दूर रहना यही ब्रह्मचर्यका साधन है।

५. सत्संगति—

"पाप, ताप और दीनता का नाश सज्जन अपने उपदेशसे ही करते हैं।" इसलिए सज्जनों की संगतिमें ही रहना चाहिए। "जैसी संगति होती है वैसा ही मनुष्य बनता है।" यह सदा के लिए ही सत्य है। इसलिए अपने मित्र पसन्द करने के समय बड़ी ही सावधानता धारण करनी चाहिए। बुरे मित्रों की कुसंगति के कारण बड़े-बड़े पुरुष भी नष्टभ्रष्ट हो चुके हैं और सज्जनों की सत्संगति से नीच मनुष्यों का भी उद्धार हुआ है। विशेषतः ब्रह्मचर्य के पालन करने के लिए सज्जनों की संगति अवश्य ही चाहिए, क्योंकि ब्रह्मचर्य भ्रष्ट होने का मूल कारण हीन मित्रों की कुत्सित संगति में अर्थात् उनके साथ किए हुए हीन विचारों में ही है।

आज-कल अश्लील तमाशे, शृंगारिक नाटकों के गन्दे दृश्य, अश्लील सिनेमाके चित्र आदि बहुत बढ़ गये हैं, पठन-पाठन विधि में अश्लील बातें भरी जाती हैं, शृंगारिक उपन्यास विद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं, भद्दे और घृणित उपन्यास सस्ते मूल्य में बाजारोंमें मिल रहे हैं, शहरों और नगरों में और भी बड़े बुरे दृश्य सुलभ हो सकते हैं, इसलिए नवजवानों के ब्रह्मचर्य का रक्षण प्रतिदिन बड़ा ही कठिन होता जा रहा है। परन्तु अब तरुण लोग ही स्वयं अपना रक्षण करेंगे और ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध अपनी आयु के साथ है, यह बात सदा ध्यान में रखेंगे, तो वे ब्रह्मचर्य का पालन निःसन्देह कर सकते हैं।

ऐसे सम्मित्र होने चाहिए कि जिनके पास तरुण विद्यार्थी अपनी अवस्था स्पष्टता से कह सकें और वे भी तरुणों को सन्मार्ग का उपदेश करके उनके कष्ट दूर करने में तत्पर हों। इस समय ऐसे सदाचारी पुरुषों की इस देश में अत्यन्त आवश्यकता है। सारांश कि यदि आप ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, तो अपने मित्र उक्त प्रकार से बनाइये और कभी दुर्जनों की संगति में न जाइये।

६. पवित्र ग्रन्थ पठन—

जिन ग्रन्थों के पढ़ने से सद्विचारों की जागृति होती है, बुरे विचार हट जाते हैं और श्रेष्ठ सुविचार उत्पन्न होते हैं, वे ग्रन्थ पवित्र होते हैं। ऐसे ग्रंथ ही पढ़ने चाहिए। जिसमें अश्लील और दुराचार की कथायें नहीं हैं, श्रेष्ठ आचार-विचारों का ही जिसमें कथन है,

जिनके पढ़ने से मनुष्य श्रेष्ठ आत्मविश्वास से सम्पन्न हो जाता है, ऐसे ग्रन्थ हो पठन करने चाहिए।

प्रतिदिन स्नान संध्या करने के पश्चात् श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ का पाठ कीजिये और जो पवित्र विचार आप पढ़ेंगे, उसको अपनाने का अभ्यास अवश्य कीजिये। ऐसा कभी न हो कि आप उत्तम ग्रन्थ पढ़ें और उसको पढ़ने के पश्चात् बिलकुल छोड़ दें। ऐसा करने से व्यर्थ मेहनत हो जायगी। इसलिये पढ़े हुए सद्ग्रन्थ का मनन करके उसके अनुसार आचरण करने का अवश्य यत्न कीजिये।

साधु संत, महात्मा, लोकोत्तर सदाचरणी सत्पुरुष आदि लोगों के बोध वचन अपने स्मरण में रखिये। वेद के पवित्र मन्त्र, उपनिषद् की श्रेष्ठ श्रुति तथा अन्य सद्विचार के सारभूत वाक्य आप अवश्य स्मरण में रखिये। ऐसा यदि आप प्रयत्न करेंगे तो आपसे ब्रह्मचर्य का पालन निःसन्देह हो जायगा।

७. शीतोदक स्नान—

उष्ण उदक के स्नानसे ब्रह्मचर्य का पालन होना कठिन होता है, इसलिए ब्रह्मचर्यके लिए शीत उदक का स्नान करना योग्य है। यदि सहन हो सकता है तो शीत जल का स्नान बड़ा लाभ दायी हो सकता है। जिसको स्वप्न दोष होते है, यदि वह नित्य प्रातःकाल में शीतोदक से उत्तम स्नान करेगा, तो उसका स्वप्नदोष दूर होगा। आवश्यकता होने पर दिन में दो अथवा तीन बार भी स्नान करने में कोई हर्ज नही है। परन्तु स्नान सहन होना चाहिये। यदि शीत उदक का सहन नहीं होता तो उपस्थ-प्रदेश शीत उदक से दो तीन बार स्वच्छ धो देने से भी बड़ा लाभ हो जाता है।

सब ऋतुओं में कुए के पानी का स्नान उत्तम है। कुए का जल सदा ताजा शीतल और विपुल होना चाहिए। थोड़े से जल से स्नान करनेसे कोई लाभ नही होता। सब अंग प्रत्यंग को पूर्ण जल से अच्छी प्रकार धोना योग्य है। जो भाग अच्छी प्रकार धोया नही जाता वह दुर्बल रहता है और वहीं रोग आकर बसता है। उष्ण काल में दो बार स्नान करने का अभ्यास करने से बड़े लाभ होते है। शरीर भी मलीन न रखिये, जहां मल रहेंगे वहां उष्णता बढ़ती है और बीमारी बढ़ जाती है। नदी, तालाब और समुद्र का स्नान क्रमशः उत्तमोत्तम है। तैरने का अभ्यास कीजिये। जल में बहुत तैरने वाले को ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। स्नान करने के स्थान में विपुल हवा और प्रकाश रहना चाहिये भोजन के पूर्व तीन घन्टे स्नान करना चाहिए इतना सयम न रखेंगे तो पचनक्रिया बिगड़ जायगी। स्वप्नदोष के कष्ट जिनको होते है उन्हें उचित है कि, वे सोने के पूर्व मस्तक, हाथ और पांव को ठन्डे पानीसे स्वच्छ धो दें, तत्पश्चात् उत्तम स्वच्छ कपड़े से उनको शुष्क करें, तथा छाती कमर

तथा सब गुप्त प्रदेश जलसे अथवा गीले कपड़े से स्वच्छ करें। ऐसा करने से और विशेषतः गुप्त प्रदेश के ऊपर शीतल जल का प्रयोग करने से निःसन्देह स्वप्नदोष हट जाता है। स्वप्नदोष के साथ कब्जी अवश्य रहती है इस लिये शीतल जलके साथ स्नान करने के समय पेट का अच्छी प्रकार मर्दन करने से शौच शुद्धि अच्छी तरह से हो जाती है। इस प्रकार स्वप्नदोष हट सकते हैं।

८. अल्पाहार—

अति भोजन करने से धातु में विकार हो जाता है, विशेषतः रात्रि का भोजन परिमित ही चाहिए। अति भोजन से अनेक रोग हो जाते हैं। नित्याजीर्ण होने का कारण अति-भोजन ही है। बहुत भोजन करने वाला और दिन भर खाते रहने वाला मनुष्य कदापि ब्रह्मचारी नहीं रह सकता।

हितकारक और पथ्यकारक अन्न परिमित प्रमाण में खाना चाहिये। कितना भोजन करना चाहिये, यह एक बात बड़े-बड़े मनुष्य भी नहीं जानते। यह ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। पेटके चार भाग करके दो भाग पेट अन्न से, एक भाग पेट जल से भरकर शेष पेट वायु संचार के लिये खुला रहना चाहिये। दिनमें केवल दो बार ही अन्न खाना उत्तम है, इससे अधिक बार खाना योग्य नहीं है। रसनेन्द्रिय का संयम करने से आरोग्य बढ़ता है और ब्रह्मचर्य भी रहता ही है। भोजन में बहुत पदार्थ न हों। जितने पदार्थ कम हों उतने अच्छे हैं।

जितना अन्न मनुष्य खाता है, उसका तीसरा भाग भी हजम नहीं होता, इसलिये अपचित भागका आम बनता है और वह धातु स्थान में दोष उत्पन्न करता है। भोजन सादा, लघु, स्निग्ध, रसयुक्त, मधुर और प्रिय हो। आनन्द के साथ भोजन किया जाय तो लाभ-दायक होता है। गेहूं, चावल, चना, बाजरा, ज्वारी, शाली, जौ, अरहर, मूंग, दूध, दधि, घी, मक्खन, मीठा, सैंधव, कालीमिर्च, शकरकन्द, साग और उत्तम रसयुक्त फल इत्यादि पदार्थ सात्त्विक भोजनमें आते हैं। गर्म मसाले आदि तीक्ष्ण रूक्ष और दाह करने वाले पदार्थ राजसिक होते हैं और वे रोग उत्पन्न करते हैं। जो बड़े समयके बने हुए पदार्थ, सड़े हुए पदार्थ होते हैं वे तामस होते हैं। ब्रह्मचर्य धारण करने वालेको केवल सात्त्विक भोजन ही करना योग्य है। मद्यमांस का सेवन करना बहुत बुरा है। इस विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि सब लोग अब इस बात को जानते ही हैं। निसर्गतः मिलने वाले पदार्थ स्वाभाविक स्थिति में भक्षण करना उत्तम है। जितने अधिक संस्कार किये जाते हैं, उतने पदार्थ भक्षण के लिए अयोग्य होते हैं। कन्द, मूल, फल और दूध अच्छा है। साबित गेहूं और दलिया अच्छा है, मैदा सबसे बुरा है इससे निसर्ग निर्मित आहार का पता लग जायगा।

केवल दो बार ही भोजन करना उत्तम है, रात्रि में भोजन न करने से स्वप्न दोष बहुत सा दूर हो जाता है, आवश्यकता होने पर थोड़ा-सा दूध किंवा अल्पाहार करना। जो एकभुक्त रहता है, वह सदा रोगमुक्त होता है। कम से कम उसे बहुत कम रोग होते हैं। अन्न अच्छी प्रकार चबाकर खाना चाहिए। भोजन के पश्चात् एक घण्टा मानसिक अथवा शारीरिक श्रम करना योग्य नहीं है तथा अतिश्रम करने पर उसी समय भोजन करना भी बहुत बुरा है। भोजन के पूर्व, पश्चात् और बीच में शुभ विचार ही मन में रखने योग्य हैं। क्रोध, लोभ और भय आदि से शरीर में विष उत्पन्न होता है। भोजन के समय जलपान न करना उत्तम है। भोजन के पश्चात् एक घण्टे के बाद जलपान करना लाभदायक है। भोजनमें पकौड़े और चटपटे पदार्थ उपयोगी नहीं हैं। चाय, कहवा, मिठाई, खटाई सब छोड़ने योग्य हैं। नियमित समय में भोजन करना चाहिए और अन्य समय में कुछ भी न खाना अत्यन्त उत्तम है। चलनेके समय अथवा लेटकर भोजन करना बहुत बुरा है। भोजन के समय स्वच्छ वस्त्र पहनना उत्तम है। भोजन के पूर्व नाखून और हाथ स्वच्छ करना योग्य है। नाखूनों में जो मल रहता है बड़ा विषैला होता है, वह विष पेटमें जाकर विविध रोग उत्पन्न करता है। भोजन के पूर्व हाथ, पांव धोकर साफ कीजिये तथा आंख, नाक आदि सिर के इन्द्रियों को अच्छी प्रकार जल लगाइये और जिह्वा खूब साफ कीजिए। भोजन के पश्चात् भी अच्छी प्रकार मुखकी स्वच्छता करनी चाहिए। प्रातःकाल में कुछ भी नहीं खाना चाहिए। शौच से निवृत्त होते ही अन्न खाना अपानकारक है। भोजनोत्तर टहलना लाभदायक है, पश्चात् किंचित् विश्राम करना चाहिए। भोजन का स्थान स्वच्छ हवा और प्रकाश से युक्त तथा उत्तम आरोग्यदायक हो।

पीने योग्य जल वह होता है कि जो स्वच्छ निर्गन्ध और शीत होता है, जो सूर्य-प्रकाशमें पवित्र हुआ है। दिन-रातमें दो-तीन बार पानी पीना चाहिए। ऋतुकाल के अनुकूल न्यूनाधिक करना भी आवश्यक है। जल कम पीने वालों को बद्धकोष्ठता होती है। जल छानकर ही पीना चाहिए और छाननी भी प्रतिदिन स्वच्छ रखनी चाहिए। जल भी थोड़ा-थोड़ा पीना चाहिए। प्यास लगने के पश्चात् पानी पीना उत्तम है। बर्फ, सोडा, लेमोनेड आदि पेय बहुत ही खराब हैं। सोनेके पूर्व थोड़ा जलपान आवश्यक हो तो कीजिए तथा जागते ही थोड़ा "उषःपान" करने से शौचशुद्धि ठीक हो जाती है। तांबेके बर्तन में रखा हुआ जल पीने के अच्छा होता है। ऐसा जलपान करने से स्वप्न दोष दूर हो जाते हैं।

९. उपवास—

अजीर्ण से शरीर में अनेक रोग होते हैं। अजीर्ण का नाश करने के उपाय औषधि सेवन

नहीं है, परन्तु उपवास करना ही है। औषधि सेवन करने से वीर्यदोष होते हैं, परन्तु उपवास से वीर्यदोष न्यून होते हैं। उपवास से न केवल शरीर शुद्ध होता है, प्रत्युत मन भी पवित्र होता है। उपवास करने के समय शुद्ध जल जितना आवश्यक हो, उतना पीना चाहिए। योग्य समय में उपवास करनेसे स्वप्न दोष हट जाते हैं। यदि अन्नवर्जनपूर्वक उपवास करना अशक्य हो, तो फलों का रस थोड़ा-सा पीना उत्तम है। परन्तु वह भी अत्यन्त अल्प। अपचित आम पेट से दूर करना और इस उपायसे स्वप्नदोष हटाना, उपवास से ही सिद्ध होता है। अन्य उपाय इससे कम उपयोगी है। उपवास के पश्चात् दुग्धाहार तथा अत्यन्त सुपच लघुभोजन करना प्रशस्त है।

१०. दो बार मल-मूत्र विसर्जन—

शौचका का अवरोध करने से वीर्यनाश हो जाता है। इसलिए मल-मूत्र विसर्जन करने की प्रेरणा हुई तो अवश्य बाहर जाकर स्वच्छता करना चाहिए। मल-मूत्र के वेगों को दबाना कदापि योग्य नहीं। ऐसा नियम करना चाहिए कि दो बार ही मलमूत्र विसर्जन करना पड़े। बारम्बार शौच जाना भी हानिकारक है। बल से शौचकी प्रवृत्ति बढ़ाने से बवासीर हो जाता है। सबेरे शौच के पूर्व शीत अथवा उष्ण जल थोड़े नमक के साथ पीने और पेट की मालिश करने से सब प्रकार की कब्जी आठ दिन में निःसन्देह दूर होजाती है। थोड़े दिनोंके पश्चात् फिर इस प्रकार पानी पीनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। नियमित व्यायाम और योग्य प्राणायाम करने से कोष्ठबद्धता दूर हो जाती है। पतला अथवा सख्त शौच बुरा है, शौचको देर भी नहीं लगनी चाहिए, शौच के समय आवाज होना भी बुरा है। शीघ्र ही स्वाभाविक शौच होना चाहिए। काम-विकार उत्पन्न होने लगा तो मलमूत्र विसर्जन कीजिये और शीतल जल से सब गुह्य प्रदेश स्वच्छ कीजिए। ऐसा करने से बड़ा लाभ होगा।

११. जननेंद्रिय का स्नान—

जननेंद्रिय शीतल जल में रखकर उसको अच्छी प्रकार शीतल करने से सब शरीर और मन शान्त हो जाता है और स्वप्न-दोष दूर हो जाता है। प्रत्येक बार मूत्र करने के समय शीतल जल लोटा भर साथ रखिये और शिश्न को अच्छी प्रकार धोकर शीतल कीजिये, शौच के समय में भी बहुत जलका उपयोग करके दोनों द्वारों की निर्मलता करनी चाहिए। अन्य समय जननेंद्रिय को स्पर्श करना नहीं चाहिए, तथा सोने के समय भी घर्षण करना कदापि उचित नहीं है।

१२. जल्दी सोना जल्दी उठना—

रात्रि में ९। बजे सोना और प्रातःकाल ४ बजे उठना योग्य है। इसमें थोड़ा न्यूनाधिक भी कर सकते हैं। चार बजे उठने के पश्चात् फिर सोना योग्य नहीं। नाटक, तमाशे आदि

देखने में कालका अपव्यय करना कदापि योग्य नहीं है। सोने का स्थान स्वच्छ, खुला, शुद्ध हवासे युक्त, प्रकाशमय होना चाहिए। बिछौना नरम न हो, सख्त हो इससे स्वप्न-दोष नहीं होते। ओढ़ने आदि के सब कपड़े स्वच्छ और निर्मल चाहिए। ६, ७ घन्टों से अधिक निद्रा की आवश्यकता नहीं है। दिन में सोना बहुत बुरा है। सोने के कमरे में जलता दीप रखना योग्य नहीं है। रात्रिके भोजन के दो तीन घंटे पश्चात् सोना अच्छा होता है। सोने के पूर्व मूत्रत्याग करना अच्छा है, तथा इस समय अवश्य जनन-इन्द्रियका स्नान करना चाहिए।

१३. लंगोट बन्द रहना—

लंगोटा सदा स्वच्छ और पतले कपड़े का हो। मोटे कपड़े का होने से उष्णता बढ़ जाती है और परिणाम बुरा होता है। पतले कपड़े का लंगोटा बांधने से बहुत लाभ होता है और ब्रह्मचर्य रहने में थोड़ी सी सहायता होती है।

१४. निर्व्यसनता—

चाय, कहवा, सिगरेट, तम्बाकू, मद्य आदि सभी दुष्ट-व्यसन बहुत बुरे हैं। सब प्रकार के दुर्व्यसन ब्रह्मचर्य के घातक हैं। इसलिए हर एक प्रकार का दुर्व्यसन सदा दूर रखना योग्य है। चाय, कॉफीसे बद्धकोष्ठता बढ़ती है, तथा इतर व्यसनों से रक्तदोष बढ़ते हैं। इसलिए श्रेष्ठ बनने की इच्छा करने वालों को उचित है कि वे कदापि किसीभी दुष्ट व्यसनमें न फंसे।

१५. एकान्त त्याग—

जो तरुण वीर्यदोष से दुःखी हैं वे कभी एकान्त सेवन न करें, अच्छे पुरुषों के सहवास में ही रहें। सोने के समय में भी कमरे में एकान्त में न सोवें।

१६. दिनचर्या लिखना—

"कृतं स्मर" अपने किये हुए कर्मका स्मरण कर ऐसा वेद कहता है। इसलिए अपनी दिनचर्या लिखने का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। मैं कैसा था और अब कैसा हूँ, इसका इससे पता लग जाता है और सुधरने का मार्ग विदित होता है।

१७. प्रतिज्ञा-पालन—

जो प्रतिज्ञा की है उसका पालन करने का यत्न कीजिये, ऐसा करने से निश्चय का बल आपके अन्दर बढ़ेगा और निश्चय का बल बढ़ जाने से आत्मशक्ति विकसित होकर ब्रह्मचर्य पालन आपसे होगा।

१८. उच्च ध्येय और श्रेष्ठ आदर्श—

अपने मनके सामने उच्च ध्येय और अत्यंत श्रेष्ठ आदर्श रखना चाहिए। उस आदर्श अवस्था तक पहुँचने की पराकाष्ठा करने से मनके सब व्यापार श्रेष्ठ ही होते हैं और अवनति नहीं होती। श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्र पढ़ने और वैसा ही श्रेष्ठ बनने का अभ्यास करनेसे बड़ा लाभ होता है। इस अभ्यास से मन में पतित विचार नहीं आते।

अद्भुत अश्वत्थ

[वेदतीर्थ श्री हरिदत्त जी शास्त्री]

[लेखक प्राचीन दर्शनों और वेदों के प्रकाण्ड पण्डित हैं। गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन है। कुछ विद्वान् अश्वत्थ को शरीर के रूप में और दूसरे संसार के रूप में देखते हैं। प्रस्तुत लेख में अश्वत्थ को संसार वृक्ष के रूप में, शास्त्री जी ने शास्त्रीय भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है। वर्णन की प्राचीन शैली में जो रस लेते हैं उन विचारकों के लिए लेख उपयोगी है।

—सं० सम्पादक]

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने—

> ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्,
> अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
> छन्दांसि यस्य पर्णानि,
> यस्तं वेद स वेदवित् ॥

यह कहते हुए सांसारिक निकायको अश्वत्थ के रूप में वर्णित किया है, इसी अश्वत्थ को संसार वृक्षके रूप में शंकराचार्य ने भी कठोपनिषद् के भाष्य में सविस्तार दिखलाया है। वे लिखते हैं—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिन् लोकाश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वैतत् ॥

इस छठी वाली के प्रथम वाक्य का अभिप्राय संसार वृक्ष की ओर है, मनुष्य की ओर नहीं। भाव यह कि एक ही अश्वत्थ प्रयोजन भेद से भिन्न-भिन्न पदार्थों में आरोपित करके कहा गया है—संसार वृक्ष को ऊर्ध्वमूल माना है। यह संसार ज्ञान की असि (तलवार) से काटा जा सकता है अतः वृक्ष कहलाता है। तथा जन्म-मरण और शोक-मोहादि अनर्थों से व्याप्त है, प्रतिक्षण बदलता रहता है। अतएव इसे अश्वत्थ कहते हैं।

न—नहीं, श्व—कल, स्थ—ठहरे जो कल तथा टिकाऊ न हो वह अश्वत्थ कहलाता है। माया और मृगतृष्णिका का एवं गन्धर्व नगर के समान यह अश्वत्थ तत्त्व ज्ञानियों की दृष्टि में रहता हुआ भी नष्ट है। केले के स्तम्भ के समान इसमें से निस्सार दल के ऊपर दल निकलते चले जाते हैं।

अनेक पाखण्ड मत-मतान्तर इस संसार के विवेचन करते-करते ही निकल पड़े हैं। उसकी जड़ ईश्वर के महाकाश में स्थित है, क्योंकि वह निमित्त कारण है एवं अव्यक्त प्रकृति

उपादान कारण अपर ब्रह्म रूप हिरण्यगर्भ जिसमें कि स्वाभाविक ज्ञान और क्रिया रहती है। इस अश्वत्थ का अंकुर सारे प्राणियों के लिङ्ग शरीर इसके तने के समान है। तृष्णा रूपी जल के सींचने से यह पेड़ खूब फलता-फूलता है। ज्ञानेन्द्रियों के विषय इसकी नई कोंपलें हैं। श्रुति स्मृति और न्यायादि विद्याओं का उपदेश इसके चौड़े पत्ते हैं। यज्ञ, दान, और तप आदि अनेक क्रियायें फूल के समान हैं। सुख-दुःख और वेदना इसके रस हैं। प्राणिमात्र इसके फलों को चखता है। सत्य, मह, जनादि जो सप्त लोक हैं उनके निवासी भूत ही पक्षी के समान घोंसला बनाये इस पर रहते हैं। प्राणियों को सुख-दुःख के अनुभव से जो हर्ष और शोक उत्पन्न होते हैं, उसके अनुभव स्वरूप जो मनुष्य तुल्य गीत वादित्र और युद्धादि के लिए परस्पर आह्वान में आनन्द लेते हैं, ताल ठोकते हैं, खम्भ फटकारते हैं, हँसते या रोते हैं, उनसे इस वृक्ष पर बड़ा कोलाहल मचा हुआ है। अनासक्ति ईश्वरार्पण बुद्धि या कर्मफलासक्ति त्याग के आश्रित होकर या कर्मनिष्ठाविचारादि का आचरण करते हुए ईश्वर प्रणिधान करना है अर्थात् सर्वानुस्यूत शक्ति को कभी न भुलाना है। यही इस पेड़ के काटने के लिए महान् शस्त्र है। जिस प्रकार चल दल के पत्ते प्रतिक्षण चपलित होते रहते हैं उसी प्रकार काम, क्रोध और लोभ की वासना से यह वृक्ष भी हिलता रहता है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् आदि योनियां इसकी नीचे और ऊपर जाने वाली टहनियां हैं। इस अश्वत्थ को जानकर जो कर्म करते हैं वह परमपद को प्राप्त होते हैं।

—❀ जाग गया तब सोना क्या रे ? ❀—

जो नर तन देवन को दुर्लभ सो पाया अब रोना क्या रे,
ठाकुर से कर नेह आपना इन्द्रिय के सुख होना क्या रे।
जब वैराग्य ज्ञान उर आया तब चांदी औ सोना क्या रे,
दारा सुवन सदन में पड़के भार सबों का ढोना क्या रे।
हीरा हाथ अमोलक पाया कांच भाव में खोना क्या रे,
दाता जो मुख मांगा देवे तब कौड़ी भर दोना क्या रे।
गिरिधरदास उदर पूरे पर मीठा और सलोना क्या रे,
जाग गया तब सोना क्या रे।

—महाकवि गिरिधरदास

कुछ बोधमय संस्मरण—

तू स्वरूप अक्षय जीवन का

[श्री किशोरलाल]

जब मैं सन् १९४२ में जयपुर जेल में कैदी था, मेरे वार्ड के बाजू में स्त्रियों का वार्ड था। वहां से रोजो शाम प्रार्थना की आवाज सुनाई देती थी। उसमें एक भजन हर रोज गाया जाता था। उसका ध्रुपद था—"जग में जीना दो दिन का।" मेरा ख्याल है कि यह ब्रह्मानन्द भजन माला का भजन है। इसी भाव के हमारे भक्ति-साहित्य में सैकड़ों भजन है। कबीर जी का—"इस तन धन की कौन बढ़ाई" प्रसिद्ध ही है। इन भजनों में सत्यांश और बोध लेने लायक कुछ भाग तो है। फिर भी मुझे ये विचार कुछ अखरते थे। कई दिनों तक उसे सुनते रहने पर मेरे साथ रहते हुए श्री तुकड़ोजी महाराज को मैंने एक दिन विनोद से कहा—"ये बहनें कैसे मान सकती है कि जग में जीना दो दिन का?" मास-डेढ़ मास इसे ही सुनते-सुनते हो गया! खैर, यह भी मजाक थी, लेकिन उसके अनुसार अब नीचे का भजन है :—

क्यों कहो जी साथी,
जग में जीना दो दिन का ?
गलत ख्याल न बांधो,
जग में जीना दो दिन का ॥

तनु नशु जीवी, जग चिरजीवी,
अविनाशी जीवन का ।
जग के कार्यालय में तन है,
साधन केवल जीवन का ॥

देह मरे दो दिन या युग में,
अन्त नहीं यह जीवन का ।
नहीं काम हो नाश कभी होता,
किया जो तनने जीवन का ॥

चरित-बुद्धि-वीर्य-गुण से,
विकास जग के जीवन का ।
गुण-विद्या-कीर्ति-धन-वैभव
दान है तनु के जीवन का ॥

तन जाने से डूब गई दुनिया,
सत्य नहीं यह जीवन का ।
तन जाने और जगत डूबे पर,
तू स्वरूप अक्षय जीवन का ॥

वासनाओं का केन्द्रीयकरण

[उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज]

वासना भी एक शक्ति है, ताकत है।[1] वह आत्माकी स्वाभाविक शक्ति नहीं, वैभाविक शक्ति है। फिर भी शक्ति होने के कारण उसमें हित और अहित के दोनों पक्ष विद्यमान हैं। वह जीवन के लिये उपयोगी भी हो सकती है और विनाशकारी भी। उससे जीवन का लाभ भी हो सकता है और हानि भी। वह मनुष्य के जीवन को बना भी सकती है और बिगाड़ भी। उसमें जीवन आबाद करने का भी गुण है और बर्बाद करने का भी।

वासना आध्यात्मिक नहीं, भौतिक शक्ति है। उसका नियंत्रण मनुष्य के हाथ में है। यदि मनुष्य उसे अपने नियंत्रण से बाहर नहीं जाने देता है, तो वह इन्सान का, आत्मा का, कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। आँखों का काम देखना है और अन्य इन्द्रियों के भी अपने काम हैं और वे सब अपने काम करती हैं। ब्रह्मचारी की इन्द्रियाँ देखने-सुनने, सूँघने-चखने आदि के काम तो करती ही हैं, परन्तु वे उसके नियंत्रण से बाहर नहीं हैं, इसलिये वासना की आग उसका जरा भी बाल-बाँका नहीं कर सकती। परन्तु जब मनुष्यका वासना पर से नियंत्रण हट जाता है, वह बिना किसी रोक-टोक के मन और इन्द्रियों को खुला छोड़ देता है, तो वे अनियंत्रित एवं उच्छृंखल वासनाएँ आत्मा को तबाह कर देती हैं, पतन के महागर्त में गिरा देती हैं।

वस्तुतः शक्ति शक्ति ही है। विकास से विनाश की ओर मुड़ते उसे देर नहीं लगती। इसलिए यह अनुशासक (Controller) के हाथ में है कि वह उसका विवेक के साथ उपयोग करे। वह उस शक्तिको नियंत्रण से बाहर न होने दे। आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग भी करता रहे, परन्तु विवेक के साथ। उसका काम एक कुशल इन्जीनियर (Expert engineer) का काम है। उसे अपने काम में सदा सावधान रहना पड़ता है और समय एवं परिस्थितियों का भी ध्यान रखना पड़ता है।

मान लो, एक इन्जीनियर पानी के प्रवाह को रोक कर उसकी ताकत का मानव-जाति के हित में उपयोग करना चाहता है। इसके लिए वह दोनों ओर से मजबूत पहाड़ियों से आवृत्त स्थल की एक ओर दीवार बनाकर बाँध (Dam) का रूप देता है। वह उसमें

---

1. Passion, though a bad regulator, is a powerful spring.
R. W. Emerson.

कई द्वार भी बनाता है, जिनके द्वारा अनाव-श्यक पानी को निकाल कर बाँध की सुरक्षा की जा सके। उस बाँध में जितने पानी को रखने की क्षमता है, उतने पानी के भरने तक उसे कोई खतरा नहीं होता। परन्तु जब उसमें उसकी क्षमता से अधिक पानी भर जाता है, उस समय भी यदि इन्जिनियर उसके द्वार को खोलकर फालतू पानी को बाहर नहीं निका-लता है, तो वह पानी का प्रबल स्रोत उस दीवार को तोड़ देता है और उस बाँध को तोड़कर बहने वाला उच्छृङ्खल प्रवाह मानव-जाति के लिए विनाशकारी प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देता है। अतः कोई भी कुशल इन्जिनियर इतनी बड़ी भूल नहीं करता कि जो देश के लिये खतरा पैदा कर दे।

यही स्थिति हमारे मन के बाँध की है। वासनाओं के प्रवाह को नियंत्रण में रखना यह साधक का परम कर्तव्य है। परन्तु उसे यह अवश्य देखना चाहिए कि उसकी क्षमता कितनी है। यदि वह उस पर पूर्णतः नियंत्रण कर सकता है और अगस्त्य ऋषि बनकर सारे समुद्र को चुल्लूभर में पीकर पचा सके तो यह आत्म-विकास के लिये स्वर्ण अवसर है। परन्तु यदि वह वासनाओं पर पूर्ण नियंत्रण करने की क्षमता नहीं रखता है, फिर भी वह उस अनन्त प्रवाह को बाँधे रखने का प्रयत्न करता है, तो यह उसके जीवन के लिए खतरनाक भी बन सकता है।

भगवान महावीर ने साधना के दो रूप बताये हैं—१. वासनाओं पर पूर्ण नियंत्रण और २. वासनाओं का केन्द्रीयकरण। या यों कहिये पूर्ण ब्रह्मचर्य और आंशिक ब्रह्मचर्य। जो साधक पूर्ण रूप से वासनाओं पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं रखता है, वह यदि यथावसर वासना के स्रोत को बहने के लिए उसका द्वार खोल देता है, तो कोई भयंकर पाप नहीं करता है। वह उच्छृङ्खल रूप से प्रवहमान वासना के प्रवाह को केन्द्रित करके आत्मा को भयंकर बर्बादी—अधः पतन से बचा लेता है।

जैन-धर्म की दृष्टि से विवाह वासनाओं का केन्द्रियकरण है। असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है। पाशविक जीवन से मुक्त होकर, नीति-युक्त मानवीय जीवन को स्वीकार करने का साधन है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ने का कदम है। अतः जैन-धर्म में विवाह के लिए स्थान है, परन्तु पशु-पक्षियों की तरह अनियंत्रित रूप से भटकने के लिये कोई स्थान नहीं है। वेश्यागमन और परदार सेवन के लिये कोई छूट नहीं है। जैन धर्म वासना को केन्द्रित एवं मर्यादित करने की बात को स्वीकार करता है और साधक की शक्ति को देखते हुए उसे उपयुक्त एवं आत्म-विकासक भी मानता है। परन्तु वह वासनाओं को उच्छृङ्खल रूप देने की बात को बिल्कुल उप-युक्त नहीं मानता। वासना का अनियंत्रित रूप जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है।

वासना को केन्द्रित करने के लिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष (गृहस्थ) के लिए यह आवश्यक है कि वह जिनके साथ विवाह-बन्धन में बँध चुके हैं या बँध रहे हैं, उसके अतिरिक्त प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वासना की आँख से नहीं, मातृत्व एवं भगिनीत्व की आँख से देखें। भले ही वह स्त्री या पुरुष किसी के द्वारा गृहीत हो या अगृहीत हो अथवा वह विवाहित हो या अवि-वाहित हो, परित्यक्ता श्राविका एवं साधिका का

उसके साथ पवित्र सम्बन्ध रहता है। वह कभी भी उसे अपवित्र दृष्टि से नहीं देखता।

श्रावक-श्राविका के लिए भी यह आवश्यक है कि वह स्पर्श इन्द्रियजन्य वासना पर ही नहीं, प्रत्युत अन्य इन्द्रियों पर भी नियन्त्रण रखें। उन्हें ऐसे पदार्थों को नहीं खाना चाहिए, जो वासना की आग को प्रज्वलित करने वाले हैं। उनका खाना स्वाद के लिए नहीं, बल्कि साधना के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के हेतु है। इसलिए उन्हें खाना खाते समय सदा तामसिक वस्तुओं से, अधिक मिर्च-मसालेदार पदार्थों से, तामस पदार्थों से एवं अप्रासुक भोजन से बचना चाहिए। उनकी खुराक नियमित होनी चाहिए और उन्हें पशु-पक्षी की तरह जब चाहा तब नहीं, प्रत्युत नियत समय पर खाना चाहिए। इससे स्वास्थ्य भी नहीं बिगड़ता और विकार भी कम जागृत होते हैं।

खाने की तरह सुनने-देखने एवं बोलने पर भी संयम रखना आवश्यक है। उन्हें ऐसे शृंगारिक एवं अश्लील गीत न गाना चाहिए और न सुनना चाहिए, जिससे सुषुप्त वासना जागृत होती हो। उन्हें अश्लील एवं असभ्य हँसी-मजाक से भी बचना चाहिए। उन्हें न तो अश्लील सिनेमा एवं नाटक देखना चाहिए और न ऐसे भद्दे एवं गन्दे उपन्यासों एवं कहानियों को पढ़ने में समय बर्बाद करना चाहिए।

अश्लील गीत, असभ्य हँसी मजाक, शृंगारिक सिने-चित्र और गंदे उपन्यास, देश, समाज एवं धर्म के भावी कर्णधार बनने वाले युवक-युवतियों के हृदय में वासना की आग भड़काने वाले हैं। कुलीनता और शिष्टता के लिए खुली चुनौती है और समग्र वायु-मण्डल को विषाक्त बनाने वाले हैं। अतः प्रत्येक सद्गृहस्थ का यह परम कर्तव्य है कि वह इस संक्रामक रोग से अवश्य ही बचकर रहे।

विवाह वासना को नियन्त्रित करने का एक साधन है। वह एक मलहम (Ointment) है और मलहम का उपयोग उसी समय किया जाता है, जब शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग पर जख्म हो गया हो। परन्तु घाव के भरने के बाद कोई भी समझदार व्यक्ति शरीर पर मलहम लगाकर नहीं रखता। क्योंकि मलहम सुख का साधन नहीं, बल्कि रोग को शान्त करने का उपाय है। इसी तरह विवाह वासना को रोकने के लिए विकारों के रोग को शान्त-उपशान्त करने के लिए है, न कि उसे बढ़ाने के लिए। अतः दाम्पत्य जीवन भी अमर्यादित नहीं, मर्यादित होना चाहिए। उन्हें भोगों में आसक्त नहीं रहना चाहिए और दाम्पत्य जीवन में भी परस्पर ऐसी क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए, जिससे वासनाको भड़कनेका प्रोत्साहन मिलता हो। अतः श्रावक को नियत समय पर सोना चाहिए, नियत समय पर ही उठना चाहिए और विवेक को नहीं भूलना चाहिए।

श्रावकको ऐसे कार्योंमें शामिल नहीं होना चाहिए, जिनमें विषय-वासना को उत्तेजित करने वाला कार्यक्रम हो। उसे दूसरों के वैवाहिक कार्यों में भाग नहीं लेना चाहिए और न वैवाहिक सम्बन्धों को प्रोत्साहन एवं प्रेरणा ही देनी चाहिए।

इस प्रकार गृहस्थ को वासना का केन्द्रीकरण करने के लिए प्रत्येक कार्य विवेकके साथ करना चाहिए। इसी में उसके जीवन का विकास है, हित है, सुख है एवं अनन्त शान्ति है।

शाश्वत

[श्री राघवेन्द्र तिवारी]

मुझे बहुत शाश्वत श्वेत परत पर
आर-पार देखने जैसी आदत से
आर-पार देखना एक असंगत और
परहेज की बात है, किन्तु—
यदि ऐसा न किया तो भगवान् अपनी
उस मुद्रा में आने का उपक्रम ही नहीं करते
यह एक सामूहिक विश्वास है मेरी अंतरंग
भावना का और लोग बलात् ही ना जाने
क्या कुछ कह देते हैं
ओ मेरे प्रभु उन्हें क्षमा करना
उनकी निकम्मी जीभ तेरी सत्ता पर
लांछन लगा सकती है
अपराध कर सकती है उनकी भुजा
और आततायी हो सकते हैं उनके पैर
हे मेरे भगवान् !
तू उन्हें सद्बुद्धि दे मेरे ईश्वर !!
उन्हें योग की अत्यावश्यकता है।

समाधि का आनन्द और काल

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

—स० प्र० पृ० १८७ समु० ७

जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है। वह वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है। उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है। अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए जो-जो क्रियायें करनी होती हैं, वह सब ध्यान से ही की जाती हैं, इसलिए ध्यानयोग की विशेष महत्ता है।

समाधि का काल

साधारण जगत् में ऐसा विश्वास है कि योगीजन ब्रह्माण्ड में प्राण चढ़ाकर सहस्रों वर्षों तक की समाधि अभ्यास करने से लगा सकते हैं। यह बात सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि शरीर के जिन स्थानों में धारणा और ध्यान किया जाता है, उन्हीं देशों में समाधि भी की जाती है। जिह्वामध्य (सुलिकणी) पीठ का हाड़ (रीढ़) कण्ठकूप, नाभि, दन्तमूल इत्यादि। जिस प्रकार इन स्थानों में समाधि अधिक काल तक नहीं लगाई जा सकती, इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी जानो। क्या कोई कह सकता है कि पीठ के हाड़, दाँत की जड़ आदि स्थानों में चिरकाल की समाधि लगाई जा सकती है? जब इन स्थानों में अधिक देर तक समाधि नहीं ठहर सकती, तो ब्रह्माण्ड में अधिकता ही क्या है? जो वहाँ विशेष ठहरे। प्रत्युत वहाँ तो प्राणवायु द्वारा धारणा, ध्यान, समाधि करनी होती है कि जहाँ प्राण अधिक ठहर ही नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्माण्ड में प्राण पहुँचते ही थोड़ी देर उपरान्त शीघ्र ही नासिका द्वारा निकल आता है। महायोगी श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज कृत ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में स्पष्ट कहा है कि—"जैसे मनुष्य जलमें डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।" अर्थात् थोड़ी-थोड़ी देरकी समाधि लगती है। तत्त्वज्ञानी लोग अच्छी प्रकार जानते हैं कि मनुष्यके श्वास-प्रश्वास का संचार थोड़ी देर बन्द रहे या रुधिर की भ्रमण गति शरीर में रुक जाय तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। ऐसा प्रत्यक्ष और पुष्ट प्रमाण होने पर भी जो कोई विश्वास करते कि योगी लोग समाधि लगाने पर पृथ्वी में गाड़ देने के पश्चात्, वर्ष या दो वर्ष के उपरांत समाधि में से जीवित निकले, ऐसे पुरुष को बुद्धिमान् कौन कह सकता है?

—श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

—कठोपनिषद्

यह जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। वह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस-उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है।

× × ×

बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः चानन्त्याय कल्पते ॥

—कठोपनिषद्

बाल की नोक के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में कल्पना किये जाने पर जो एक भाग होता है वही जीव का स्वरूप समझना चाहिए और वह असीम भाग वाला होने में समर्थ है। (भाव यह है कि वह जड़ जगत में सर्वत्र व्याप्त है)।

× × ×

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतानि च ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मन ॥

—महाभारत

बदला लेने का उपाय जानते हुए तथा अपने ऊपर विश्वास रखते हुए भी सज्जन केवल सुकृत का ही स्मरण करते हैं। शत्रुता को स्मरण भी नहीं करते।

× × ×

आत्मनिन्दात्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः ।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥

—महाभारत

अपनी निन्दा व प्रशंसा और पराई निन्दा व स्तुति यह चार प्रकार की आर्यों की रीति नहीं है।

यः प्रणेताऽपार्थहि परस्य मार्गाननुयाति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥

—महाभारत

जो अग्रणी नेता दूसरे के कथनानुसार चलता है और जो मार्ग से भटक जाता ऐसे व्यक्ति के कदमों पर चलने वाले लोग ठीक रास्ते पर कैसे चल सकते हैं ?

× × ×

अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
उद्यमो रक्षणे स्वेषामेतद्वैभव लक्षणम् ॥

—महाभारत

पराये धन की चेष्टा न करना, अपने कर्म में सदा उद्यमशील रहना और प्राप्त धन को बचाना यही वैभव के लक्षण हैं।

× × ×

विपत्स्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥

—महाभारत

विपत्ति काल में न घबराकर, सदा काम में लगा रहने वाला तथा सदा उद्यमी, अप्रमत्त और नम्र होकर रहने वाला मनुष्य हमेशा कल्याण को ही प्राप्त होता है।

× × ×

यस्तु धर्मे पराश्वस्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥

—महाभारत

जो मनुष्य स्वामी के प्रिय तथा अप्रिय पर ध्यान न देकर धर्मानुसार कार्य करता है और अप्रिय होने पर भी हितकारी वाणी बोलता है, उसी मनुष्य से राजा को (या राज्य को) सहायता होती है।

× × ×

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽपाचीनानि पश्यति ॥

—महाभारत

देवता जिस पुरुष को पराभव देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि नष्ट कर देते हैं, अतः वह सब विपरीत ही देखता है।

—धृतराष्ट्र

स्वाध्याय एवं योग

[श्री अज्ञात]

स्वाध्याय एवं योग का एक अभिन्न सम्बन्ध है। जो व्यक्ति स्वाध्यायशील है वह अवश्य ही योग में उन्नतम प्रवेश पा जाया करता है। यह दूसरी बात है कि कोई व्यक्ति स्वाध्याय एवं योग की परिभाषा को ही न जान सके। उपनिषदों का वचन है कि—

स्वाध्यात्योगमासीत्,
योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्त्या,
परमात्मा प्रकाशते॥

अर्थात् साधक स्वाध्याय के अभ्यास से योग को प्राप्त होवे एवं योग को प्राप्त होकर स्वाध्याय का मनन करे। स्वाध्याय एवं योग दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश हो जाता है। साधकको चाहिए कि वह स्वाध्याय एवं योग के अर्थ को भली प्रकार समझ ले। स्वाध्याय एवं योग को, समझकर साधक यदि अभ्यास आरम्भ करता है तो वह थोड़े ही समय के पश्चात् अवश्य-अवश्य समाधिस्थ हो जाता है। स्वाध्याय का अर्थ है :—

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः। मोक्ष शास्त्राणां अध्ययनं वा स्वाध्यायः।

स्वाध्याय दो भागों में बट गया। ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप स्वाध्याय कहलाता है एवं उसके साथ-साथ मुक्ति दाता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय के अर्थ को इस प्रकार समझ कर जो योग अभ्यास आरम्भ कर देते हैं उनकी प्रगति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। योग दर्शन के अन्दर भगवान पतंजलि देव ने स्वाध्याय का फल बतलाते हुए कहा है—

स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः।

अर्थात् स्वाध्याय करनेसे साधक इष्ट देवता की कृपा का लाभ करता है। व्यास भाष्य की पंक्तियों में स्पष्ट निर्देश किया है कि—

ऋषयो मुनयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्तीति।

अर्थात् ऋषि, मुनि, देवता एवं सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति की आँखों के सामने आया करते हैं एवं उसके मनोभिलषित कार्य कर दिया करते हैं। यह है स्वाध्याय का फल किन्तु स्वाध्याय कैसे करना चाहिए इसको हर व्यक्ति समझ ही नहीं पाते। आजकल माघ मेले में कल्पवासी लोग ठहरे हुए हैं एवं तपस्वियों के उत्कृष्ट नियमों का पालन करते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत से रहकर स्वाध्यायशील

रहते हैं एवं स्वाध्याय के उच्चतम फल को प्राप्त करने की महान् अभिलाषा रखते हैं। यह दूसरी बात है कि अपने नियमों का पूर्ण-रूपेण पालन वे करते हैं या नहीं। किसी ने उन्हें यह विधि समझाई है या नहीं। अतः अपने चरम लक्ष्य को वे पा सकेंगे या नहीं पा सकेंगे, इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। एक बात अवश्य है जो व्यक्ति कन्द मूल खाते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, मृदुभाषी रहते हैं एवं परनिन्दा-स्तुतिसे बच कर रहते हैं उसके साथ अपनी स्वाध्याय की सम्पत्ति को इकट्ठा करते रहते हैं वे अवश्य ही योग को प्राप्त हो जावेंगे, इसमें कोई शंका की बात नहीं। जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं उसके अनुसार स्वाध्याय के दो भाग हैं। साधक को चाहिए कि उन्हें भली प्रकार समझ ले—

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः। मोक्ष शास्त्राणां अध्ययनं वा स्वाध्यायः।

ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है एवं तत्परक शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कह-लाता है। प्रणव आदि के अन्दर ब्रह्म, विष्णु, शिव आदिके सभी नामोंका समावेश हो जाता है। चाहे कोई साधक ओ३म् का जप करे अथवा 'ओ३म् नमः शिवाय' का जप करे या 'नमो नारायणाय' का जप करे, परिणाम सभी प्रायः समान ही रहेगा। आवश्यकता इस बात की है कि स्वाध्याय के साथ योग अवश्य होना चाहिए। स्वाध्याय के बाद ध्यानाभ्यास की विधि को ही योग कहते हैं। ऐसा शास्त्रीय नियम बतलाता है:—

जप श्रान्तः शिवं ध्यायेत् ध्यान श्रान्तः शिवं जपेत्।

अर्थात् जप करता-करता यदि थक जाय तो भगवान शिव का ध्यान करे और ध्यान करता-करता थक जाय तो तत्परक मन्त्रों का जप करे। इस प्रकार से अभ्यास करने वाला व्यक्ति अवश्य ही परम गति को प्राप्त हो जाया करता है। योग दर्शन में भगवान पतंजलि देव ने ईश्वर का बोधक नाम 'ओ३म्' बतलाया है और ऐसा बतलाने के बाद उन्होंने यह भी स्पष्ट निर्देश किया है कि—

तज्जपस्तदर्थं भावनम्

अर्थात् साधक को चाहिए कि वह प्रणव का जप करे एवं उसके अर्थ का ध्यान करे। जो मनुष्य निरन्तर किसी मन्त्र का जप करेगा उसके जप के प्रभाव से उसके मन के अन्दर राजस-तामस परमाणुओं का अभाव हो जावेगा एवं सत्व का उदय हो जावेगा। सत्वोदय के साथ-साथ मनके अन्दर एकाग्रता आ जावेगी। एकाग्रता के साथ-साथ वह मन अन्तर्मुख हो जावेगा। मन की अन्तर्मुखता ही अन्तर्जगत में प्रवेश करने का एक अनुकूल साधन है। अन्तर्जगत में प्रवेश करना ही योग को प्राप्त होना है। भगवान् पतंजलि देव ने अपने योग-दर्शन में सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात नाम से योग की दो समाधियों का उल्लेख किया है। सम्प्रज्ञात समाधि का अर्थ है जिस समाधि में अन्तर्मुखता प्राप्त हो जाने के बाद विविध प्रकार के दृश्य दीखते रहें। सम्प्रज्ञात समाधि

ही एक इस प्रकार की समाधि है जिसमें स्थित होकर योगी पूर्णरूपेण मुक्त ज्ञान को प्राप्त करता है एवं अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा एवं प्राप्ति प्राकाम्य आदि सिद्धियाँ उपस्थित रहती हैं, जो साधक स्वाध्याय एवं ध्यान के अभ्यास से अन्तर्जगत में पूर्णरूपेण प्रवेश कर जाता है एवं अपने आपको पूर्णरूपेण विरक्त एवं इन्द्रियजयी रखता हुआ कृतकृत्य हो जाता है वह व्यक्ति शनैः शनैः निर्बीज (असम्प्रज्ञात) समाधि तक पहुँच जाता है। इसीलिये हमारे पूर्वजों ने आदेश दिया है कि—"स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत् स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते, इसीलिए प्रत्येक साधक को समझ लेना चाहिए कि स्वाध्याय एवं योग का एक अभिन्न सम्बन्ध है। स्वाध्यायशील व्यक्ति योगी बन जाता है और योगी ही स्वाध्याय के अर्थको भली प्रकार जान पाता है। प्रयाग माघ मेले के अवसर पर जो कल्पवासी लोग निवास करते हैं, उनका लक्ष्य रहता है कि वे पूर्णरूपेण इन्द्रियजयी रहते हुए स्वाध्याय एवं योग की सम्पत्ति द्वारा अपने आपको समाधिस्थ बना लें, किन्तु यदि ऐसा नहीं हो पाता तो उसका कारण एकमात्र एक ही है कि वे यह समझ ही नहीं पाते कि कल्पवास करते हुए हमें करना क्या चाहिए। यदि एक कल्पवासी प्रातः त्रिवेणी स्नान करके अपने इष्टदेव का पूजन करके स्वाध्याय एवं योग के अभ्यासमें लग जाता है तो इसमें कोई शंका की बात नहीं कि वह समाधिरूप अमूल्य निधि को सहज ही में पा सकता है। इसीलिये साधकों को चाहिए कि मेरे लेखकी इन पंक्तियों को पढ़कर स्वयं को स्वाध्यायशील एवं योग-परायण बनायें। ऐसा करने से उनको कल्प-वास का फल अवश्य ही प्राप्त होगा।

—❀ ऐसी तृषा जगाई ❀—

जब जब प्यास बुझाई, मैं जीवन भर के आगी, प्रभु तुम याद आये
माया ने मद पिलाया, कैसा मुझे भुलाया
पर नाथ की कृपा ने, आकर मुझे जगाया
ऐसी ध्वनि सुनाई, जो रोम रोम छाई, प्रभु तुम याद आये
तुम दीप में किरण हो, सागर हो तुम मैं नदिया
तुम रूप में छवि हो, माया तुम्हारी छलिया
ऐसी दशा बनाई, राधा कभी कन्हाई, प्रभु तुम याद आये
था कौन वह दयालु, अपना हमें बनाता?
दोषी समझ के अपना, फिरभी गले लगाता
ऐसा कहाँ गुसाई, तुमसा बने सहाई, प्रभु तुम याद आये
गज बन के मैं पुकारा, आकर मुझे छुड़ाया
कौरव सभा में बैठे, था चीर भी बढ़ाया
बिजली मुझे बनाई, मेरे अंग प्रीति छाई, प्रभु तुम याद आये
अबतो दरश दिखादो, निजको नहीं छुपाओ
घनश्याम चातकों की आ प्यास तो बुझाओ,
ऐसी तृष्णा जगाई, बुझती नहीं बुझाई, प्रभु तुम याद आये।

—श्री गोपालसिंह शर्मा पीतमस्य

सूक्ति-सरोवर

[स्वामी श्री विष्णुतीर्थ जी महाराज]

संघर्ष ही जीवन है—

संघर्ष का नाम ही जीवन है। जिस जीवन ने कभी संघर्ष का सामना नहीं किया और जो संघर्ष से डरता है, वह मृतक के समान है।

संघर्षहीन शान्ति—

बिना संघर्ष के शांति नहीं मिल सकती। संघर्षहीन शान्ति को मृत्यु ही समझिये।

संघर्ष में संयम रखिये—

नदी की शोभा पानी बहते रहने में ही है अन्यथा पानी मटैला और दुर्गन्ध आने लगेगी। लेकिन बाढ़ के समय वही नदी संयमहीन बन कर हजारों गांव बरबाद कर देती है। अतएव, सावधान! संघर्ष में अपने संयम को बराबर कायम रखिये।

सुख और शांति का पाठ—

इतिहास में जिनका नाम अमर हुआ, उन सबने संघर्ष में सुख और शान्ति से रहने का पाठ सीखा था।

कुशल योद्धा—

जो मनुष्य अशांत है, दुःखी है, वे जीवन-संघर्ष के कुशल योद्धा नहीं माने जा सकते।

विजय का आनन्द—

वीर वही है जो संघर्ष का आवाहन करते है और कुशलतापूर्वक परिस्थिति का नियन्त्रण करके विजय का आनन्द मनाते हैं।

आमोद-प्रमोद का विषय—

वास्तव में संघर्ष भयकी वस्तु नहीं होती। ज्ञानीजन संघर्ष को आमोद-प्रमोद का विषय समझते है।

उत्साह-हीन व्यक्ति—

अपने फूटे कर्मोंको रोते रहने वाला उत्साह-हीन व्यक्ति कभी शांति-देवी का कृपा-पात्र नहीं बन सकता।

सन्तुलन रखिये—

जिसका मनही मर गया, वे संघर्षके सामने नहीं टिक सकते। तूफान की एकाही टक्कर में वे अपना संतुलन खोकर कहीं के नहीं रहते।

साहसी वीर—

जिसकी नाव समुद्र की तूफानी लहरों में डावांडोल होकर भी डूबती नहीं, वही साहसी वीर पार लग सकता है।

धीर मनुष्य का चित्त—

संसार-सागर की विषय-लहरें धीर मनुष्य के शान्त चित्तको हिलाने में कभी समर्थ नहीं हो सकतीं।

कुशल व्यक्ति सुरक्षित—

इस संसार रूपी चक्की में पिसने से कोई नहीं बच सकता, लेकिन कुशल व्यक्ति पत्थर की तरह उसमें भी सुरक्षित रहता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण—

जो संघर्ष अनेकों को हतभाग्य बनाने का काम करता है, वीर उससे शान्ति प्राप्त करना सीखते है। महात्माओं को देखो, अवतारी पुरुषों को देखो और अभी-अभी भारत को एक सहस्र वर्ष की दासता से मुक्त कराने वाले महात्मा गांधीजी का जीवन भी तो इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

❁ शिव-तत्त्व ❁

[श्री भीमचन्द्र चट्टोपाध्याय]

दिगम्बरता-विचार—

निरावरणविज्ञानस्वरूपो
हि स्वयं हरः।
स्वैरं चरति संसारे,
तेन प्रोक्तो दिगम्बरः॥

जो कारण विद्या जीव को अपने ब्रह्मत्व की उपलब्धि नहीं करने देती, उस अविद्या का लेशमात्र भी परमात्मा शिव गुरु में स्वभावतः ही नहीं रह सकता, क्योंकि वे समष्टि-व्यष्टि देहत्रयरूप प्रपञ्च के विधि-निषेध से अतीत हैं। इसी कारण वे 'दिगम्बर' कहलाते हैं। उनकी इस दिगम्बरता को बेसमझ लोग 'नग्नता' कह बैठते हैं।

भस्मोद्धूलन-विचार—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि,
भस्मसात्कुरुते किल।
तेनैव भस्मना गात्र-
मुद्धूलयति धूर्जटिः॥

देह-संवलित चिदाभास में 'मैं' बुद्धि के द्वारा जो कर्म होते हैं वे संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण रूप में बन्धन का कारण बनते हैं, वही सब कर्म निष्क्रिय ब्रह्मरूपता की प्राप्ति होने पर शरीरान्तर (पुनर्जन्म) के उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं और इसलिये भस्म के सदृश अकिञ्चित्कर हो जाते हैं—यह बात गीता आदि शास्त्रों में प्रसिद्ध है। शिव के असुरविमर्दन तथा विश्वसंहारादि कर्म उसी प्रकार अकिञ्चित्कर हैं। इसी कर्म के द्वारा आवृत होकर वे लोकदृष्टि में आविर्भूत होते हैं। इसी कारण वे मुमुक्षुओं के निकट भस्मावृततया प्रतिपादित होते हैं।

भासते भिन्नभावानामपि
भेदो न भस्मनि।
स्वस्वभावस्वभावेन भस्म
भर्गस्य वल्लभम्॥

परस्पर भिन्न वस्तुएँ भी भस्मीभूत हो जाने पर एकरूप ही भासती हैं, इसी कारण भस्म सब वस्तुओं की एकरूपताका प्रतिपादक है। तुल्य स्वभाव वाले 'भर्ग' अर्थात् जगद्बीज-भर्जक शिवके निकट आनन्ददायक है।

जटाजूट-विचार—

विश्रामोऽयं मुनीन्द्राणां
पुरातनवटो हरः।
वेदान्तसांख्ययोगाख्यास्ति-
स्रस्तस्य जटाः स्मृताः॥

यही हर अर्थात् उपर्युक्त परमात्मा शुक-व्यासादि मुनिश्रेष्ठ जीवन्मुक्तों के विश्रामस्थान, पुरातन वटवृक्षस्वरूप हैं। वेदान्त, सांख्य और योग—ये तीन उस वटवृक्ष को जटा के रूप में शिरोभूषण हैं। शिव के जटाजूट का यही तात्पर्य है।

त्रिनेत्रता-विचार—

आप्यायनस्तमोहन्ता-
विश्वपा दोषदाहकृत् ।
सोमसूर्याग्निनयनस्त्रि-
नेत्रस्तेन शङ्करः ॥

शंकर चन्द्र के समान जगदानन्ददायक, सूर्य के समान अज्ञानतमोनाशक तथा अग्निके समान रागादि दोषों के दहनकर्ता हैं। इसी कारण चन्द्रसूर्याग्निनयन अथवा त्रिनेत्र कहकर उनका वर्णन किया जाता है।

भुजगभूषणता-विचार—

योगिनः पवनाहारास्तथा
गिरिबिलेशयाः ।
निजरूपे धृतास्तेन,
भुजंगाभरणो हरः ॥

योगिजन सर्प के समान वायु भक्षण कर प्राण धारण करते हैं तथा पर्वतीय गुहाओं में रहते हैं। 'बिलशायी' एवं 'वायुभक्षी' होने के कारण वे शिव को इतने प्रिय हैं कि वे इन योगीजनों को अपने अङ्ग का भूषण बनाये रखते हैं। इसी कारण शंकर 'भुजङ्गाभरण' के रूप में वर्णित होते हैं।

त्रिशूल-विचार—

शान्तिवैराग्यबोधाख्यै-
स्त्रिभिरैश्वरस्त्रिभिः ।
त्रिगुणत्रिपुरं हन्ति,
त्रिशूलेन त्रिलोचनः ॥

शान्ति अर्थात् उपरति, जो यम-नियमादि के अभ्यास, चित्तनिरोध तथा व्यवहार के संकोच द्वारा उत्पादित है।

वैराग्य अर्थात् दोषदर्शन के द्वारा रूप-रसादि सब विषयों के त्याग की इच्छा एवं भोग वस्तु के अभाव में बुद्धि की अदीनता।

बोध अर्थात् श्रवणादिजनित सत्य-मिथ्या-विवेचन, जिनके द्वारा चिदात्मा और अहंकार की एकतारूप ग्रन्थिका अनुदय और विनाश होता है।

ये तीनों उपाय अज्ञान और अज्ञानके कार्य को शीघ्र ही भेदन करने में समर्थ होने के कारण त्रिशूल के फलों के साथ सादृश्य को प्राप्त होते हैं। इसी त्रिशूल के द्वारा त्रिलोचन सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों का तथा उनके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक देहत्रय का विनाश करते हैं, मिथ्यात्व का निश्चय करा उसमें अप्रतीति उत्पादन कराते हैं।

वृषभवाहन-विचार—

ब्रह्माद्या यत्र नारूढास्त-
मारोहति शंकरः ।
समाधिं धर्ममेघाख्यं,
तेनायं वृषवाहनः ॥

जिस धर्ममेघ नामक समाधि में ब्रह्मादि कोई स्थित नहीं हो सकते, शंकर उसी समाधि में आरूढ़ देखे जाते हैं। इसी कारण शंकर 'वृषवाहन' कहलाते हैं। जिस प्रकार मन ही ब्रह्म है, ऐसा समझकर मन में ब्रह्मबुद्धि करके उपासना की जाती है। इसी प्रकार नन्दीवृष में धर्ममेघ-समाधि-बुद्धि एवं शिवमें ब्रह्माभिन्न-

प्रत्यगात्म गुरु-बुद्धि करके उपासना करनी चाहिए। समाधि द्वारा बुद्धि का साक्षात्कार हो जाने पर निरोध समाधि द्वारा चैतन्य-मात्राविगम होने से वह बुद्धि जब पुरुषत्व विषयक प्रज्ञा बनती है तब उसे 'विवेकख्याति' कहते हैं। इस प्रकार की विवेक ख्याति से सर्वज्ञता-सिद्धि उत्पन्न होती है। ब्रह्मवेत्ता जब इस सर्वज्ञता-सिद्धि के प्रति भी आसक्ति रहित हो जाता है तब विवेक ख्याति पूर्णता को प्राप्त होती है। इस प्रकार की समाधि को 'धर्ममेघ' कहते हैं। मेघ जिस प्रकार वर्षण करते हैं, यह समाधि भी उसी प्रकार परम धर्म का वर्षण करती है, अर्थात् उस अवस्था में साधक बिना प्रयत्न के ही कृतकृत्य हो जाता है।

श्मशान-विचार—

नित्यं क्रीडति यत्रापि,
स्वयं संसारभैरवः।
तत्र श्मशाने संसारे,
शिवः सर्वत्र दृश्यते॥

स्वतः सिद्ध प्रत्यगात्मस्वरूप, ज्ञानीजन-प्रत्यक्ष शंकर सारे जगत् के सामने अधिष्ठान हैं। इसी कारण वे सबके भ्रम का कारण का संसार में नित्य-क्रीड़ा करते हैं। इस श्मशान-वत् अमङ्गलरूप संसार में सर्वत्र और सब पदार्थों में वे ज्ञानीजनों को दृष्टिगोचर होते हैं। उपासना के लिए संसार में श्मशान-दृष्टि करनी चाहिए।

गण-विचार—

आनन्दसागरः शम्भु-
स्तच्छक्तिरूर्मय उच्यते।
शीकरा इव सामुद्रा-
स्तदानन्दकणा गणाः॥

शम्भु चतुर्विध (चिदानन्द चार प्रकार का होता है—(१) दुःखाभाव या दुःखनाश, (२) सर्वकामावाप्ति, (३) कृतकृत्यता तथा (४) प्राप्तप्राप्तव्यता) चिदानन्द के समुद्र के समान है। गुणमय शक्तियों या जगदुत्पादन-सामर्थ्य को इस सागर के तरङ्ग में वर्णन करते हैं। समुद्र के शीकरों के समान इस आनन्द-समुद्र के समस्त क्षुद्र अंशों को अर्थात् विविध प्रकार के चिदानन्द को, शिव के सान्निध्य और अन्तरङ्गता के कारण, गण या सेवक समझना चाहिए। अर्थात् उपासना के लिए गणों की चिदानन्दरूपता का चिन्तन करना चाहिए।

भगवान शंकर जी ने जब भृगु जी को आता हुआ देखा तो अपने आसन से उठकर उनका आलिङ्गन करने के लिए अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर आगे आये। भृगुजी चार कदम पीछे हट गये और बोले, मैं तुमसे मिलना नहीं चाहता। तुम मर्यादाहीन तथा भले-बुरे का विवेक न करने वाले हो। —कल्याण

ईश्वर-प्रणिधान अथवा भक्तियोग

[श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री]

ईश्वर-प्रणिधान योगप्राप्ति का एक श्रेष्ठ तथा सुगम मार्ग है। यह वह साधन है जो कि सब साधनों से सरलतम तथा सभी प्रकार के साधकों के लिए कल्याणकारक है। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है अनन्य शरणागति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, अन्तःकरण सब बाह्य तथा आभ्यन्तर करणों, उनसे होने वाले सारे कर्मों और उनके फलों को अर्थात् सारे बाह्य आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर के समर्पण देना। ईश्वर ही मेरे सर्वस्व हैं, वे ही मेरे प्राणाधार, माता पिता, बन्धु तथा सखा हैं। वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ। इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रखते हुए हर स्थिति में प्रसन्नचित्त एवं सन्तुष्ट रहना तथा अपने इष्ट का अनन्य चिन्तन करना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् प्रभु सबके परम आश्रय, परम सखा तथा अहेतुक दयालु हैं। जो व्यक्ति सच्चे हृदय से उनकी शरण ले लेता है उसका पूरा भार वे दयासागर स्वयं उठा लेते हैं। भगवान् अपने मुखारविन्द से इस बात की पुष्टि करते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यः ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकि-रामायण)

जो मनुष्य "हे प्रभो! मैं आपका हूँ" इस भाव से केवल एक बार अपने को सब ओर से मेरे अर्पण कर देता है। उस सच्चे हृदय से प्रार्थना करने वाले भक्त को अपनाकर मैं उसे सम्पूर्ण प्राणियों से सदा के लिए निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा प्रण है।

अर्जुन को भक्तियोग का उपदेश देते हुए जगदात्मा श्रीकृष्ण इस बात की घोषणा करते हैं कि जो साधक मेरी अनन्य शरण ले लेते हैं उनका योग और क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

जो अनन्यभाव से मेरे में स्थित भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम-भाव से भजते हैं उन अनन्य भाव से भजन करने वाले पुरुषों का योग अर्थात्-भगवत्प्राप्ति के निमित्त किये गये साधन की रक्षा का भार मैं स्वयं उठाता हूँ।

ईश्वर-प्रणिधान अष्टाङ्गयोग का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसे ही भक्तियोग कहा जाता है। इसके बिना योगमार्ग में विशेष प्रगति नहीं हो-

सकती। क्योंकि—साधना में आने वाले अन्तरायों की निवृत्ति ईश्वर भक्ति अथवा ईश्वर-प्रणिधान से ही होती है।

योग दर्शनकार महर्षि पतंजलि देव ने—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा, तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थ भावनम्। ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

आदि सूत्रों से उक्त कथन की पुष्टि की है तथा ईश्वर के नाम का जप और ध्यान पर विशेष बल दिया है।

क्योंकि—योग का मुख्य उपाय अभ्यास और वैराग्य साधन तो समाहित चित्त वाले योग के उत्तम अधिकारी ही कर सकते हैं, किन्तु विक्षिप्त चित्त वाले मध्यमाधिकारी, जिनका चित्त सांसारिक विषय-वासनाओं तथा राग-द्वेष से मलिन है, उनके लिए अभ्यास तथा वैराग्य का होना कठिन है। अतः उनके लिए ईश्वर-प्रणिधान ही योग प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। ईश्वर भक्ति से साधक को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है तथा चित्त शुद्ध हो जाता है। अनन्य चिन्तन के प्रभाव से साधक राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। उसे भोगों में वितृष्णा तथा कर्मफल में अनासक्ति हो जाती है, जिससे उसका अभ्यास तथा वैराग्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनन्य चिन्तन के साधन का स्वरूप और फल श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार बताया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा,
बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं,
तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां,
भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं,
येन मामुपयान्ति ते॥

निरन्तर मुझ परमेश्वर में मन लगाने वाले और मुझ में ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव का वर्णन करते हुए तथा मेरा गुणगान करते हुए निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मुझ वासुदेव में निरन्तर रमण करते हैं। इस प्रकार ध्यान आदि द्वारा निरन्तर मुझ में रमण करने वाले और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

अनन्य चिन्तन में अद्भुत शक्ति है। जो व्यक्ति सर्वतोभावेन प्रभु का भजन करता है, वह प्रभु में ही मिल जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह निश्चित है कि विषयों का चिन्तन करने से मन विषयों में ही उलझा रहता है और ईश्वर का चिन्तन करने से साधक को ईश्वर-प्राप्ति हो जाती है। प्रभु-चरणों का अनन्य चिन्तन करने वाले ध्यानाभ्यासी तथा गुरु मन्त्र का अधिकाधिक जाप करने वाले श्रद्धालु साधक उक्त सिद्धान्त की सत्यता को

अवश्य स्वीकार करेंगे, क्योंकि अपनी साधना के फलस्वरूप उन्हें दिव्य अनुभूतियाँ होती रहती हैं।

सामान्य लोगोंको भी अखिलात्मा श्रीकृष्ण के इस वचनामृत पर विश्वास करके लाभ उठाना चाहिए।

अपि चेत्सुदुराचारो,
भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव सः मन्तव्यः,
सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा,
शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि,
न मे भक्तः प्रणश्यति॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा भक्त होकर मुझ परमेश्वर का अनन्यभाव से भजन करता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि ईश्वर भजन के समान श्रेष्ठ कार्य अन्य कुछ नहीं है।

भजन के प्रभाव से वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सदा रहने वाली परम शांति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चय-पूर्वक जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

ईश्वर की शरणागति को ही भक्ति-योग कहा जाता है। "भक्ति" शब्द की व्युत्पत्ति "भज्" धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सेवा।

'शाण्डिल्य भक्तिसूत्र' में भक्ति शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"सा परानु-रक्तिरीश्वरे।" अर्थात् अपने इष्ट में परम अनुराग होना ही भक्ति है। भक्ति के नौ भेद हैं। यथा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः,
स्मरणम् पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं,
सख्यमात्मनिवेदनम्॥

सन्तजनों से ईश्वर की लीलाओंको सुनना तथा शास्त्रों को पढ़ना, श्रद्धालु व्यक्तियों के साथ प्रभुका गुणगान करना, ईश्वर का अनन्य चिन्तन करना, गुरु-चरणों की सेवा करना, प्रभु का मानसिक पूजन, वन्दन, दास्यभाव से ईश्वर की सेवा, सख्य भाव से आत्मीयता रखना तथा आत्म-निवेदन, यह नौ प्रकार की भक्ति होती है।

भगवान् श्रीराम ने अपने मुखारविन्द से शबरी को इसी नवधा भक्ति का उपदेश दिया था।

नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भक्ति संतन कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरुपद पंकज सेवा,
तीसरि भक्ति अमान।

चौथि भक्ति मम गुनगन,
करइ कपट तजि गान ॥
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दमसील बिरति बहु करमा ।
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा ॥
सप्तम सब मोहिमय जग देखें ।
मोतें सन्त अधिक कर लेखें ॥
अष्टम यथा लाभ सन्तोषा ।
सपनेहु नहिं देखै परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छलहीना ।
मम भरोस हिय हरष न दीना ॥

(१) सन्तों का सत्संग करना तथा श्रद्धापूर्वक उनका उपदेश सुनना प्रथम प्रकार की भक्ति है। इसे श्रवण भक्ति कहा जाता है।

(२) ईश्वर की लीला-कथाओं के प्रसंग में प्रेम रखना तथा ईश्वर का गुणगान करना यह दूसरे प्रकार की भक्ति है। इसे कीर्तन भक्ति कहा जाता है।

(३) अभिमान को त्याग कर गुरुदेव के चरण-कमलों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना तीसरे प्रकार की भक्ति है।

(४) निष्कपट भाव से ईश्वर का गुणगान करना चौथे प्रकार की भक्ति है।

(५) मन्त्र का जप करना तथा प्रभु में दृढ़ विश्वास रखते हुए निरन्तर अनन्य भाव से भजन करना पाँचवीं प्रकार की भक्ति है।

(६) इन्द्रिय दमन, श्रेष्ठ व्यवहार, कर्मों में अनासक्ति तथा सज्जनों के धर्म में निरन्तर प्रीति रखना छठी भक्ति है।

(७) सारे संसार को प्रभुमय देखना तथा सन्तों को ईश्वर से भी श्रेष्ठ समझकर उनकी अधिक से अधिक सेवा सातवीं भक्ति है। सन्तों का स्थान भगवान से भी ऊँचा है, इस सम्बन्ध में कबीर का यह दोहा विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हरि सों तू जनि हेत कर,
कर हरिजन सों हेत।
माल मुलुक हरि देत हैं,
हरिजन हरि ही देत ॥

(८) अपने पास जो कुछ है या प्राप्त हो रहा है उसी में ही सन्तोष करना और स्वप्न में भी दूसरों का दोष न देखना, यह आठवीं भक्ति है।

(९) सबके साथ सरल तथा छल-रहित व्यवहार करना तथा ईश्वर पर दृढ़-विश्वास रखते हुए किसी भी स्थिति में हर्ष या शोक न करना नौवीं भक्ति है।

भक्ति भवसागर को पार करने के लिए एक सुदृढ़ नौका है। प्राणायामादि सहयोग की कष्ट साध्य क्रियायें हर व्यक्ति नहीं कर

सकता और न अभ्यास-वैराग्य रूप योग साधन सबके लिए सम्भव है। उपरोक्त साधन में साधक को अपने साधन की चिन्ता रहती है और साधना में प्रगति न होने पर दुःख होता है। इसके अतिरिक्त इन क्रियाओं में भी श्रद्धा का होना उतना ही आवश्यक है और श्रद्धा भी भक्ति का ही एक रूप है।

किन्तु भक्तियोग में एकही बार सच्चे हृदय से भगवान की शरण ले लेने से कुछ भी करना शेष नहीं रहता। उसका सारा भार वे दयामय प्रभु स्वयं उठा लेते हैं। भक्तियोगी चिन्ता का भार अपने प्राणप्यारे प्रभु पर छोड़कर स्वयं प्रभु-चिन्तन में मग्न रहता है। उसके सभी कार्य भगवान की प्रसन्नता के लिए ही होते हैं। अतः उसे कर्मफल की इच्छा नहीं रहती। भक्तियोगी अपनी अनन्य भक्ति के प्रभाव से विपत्तियों के पहाड़ को हँसते-हँसते पार कर जाता है। कोई भी भौतिक शक्ति उसका सामना नहीं कर सकती। मीरा तथा प्रह्लाद इस बात के मूर्तिमान उदाहरण हैं। भगवद् भक्त योग की सभी सिद्धियों का स्वामी होता है। रामभक्त हनुमान की योगलीलायें इस बात को सिद्ध करती हैं।

महापुरुषों ने भक्ति की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। मुनिजन भक्ति का ही वरण करते आये हैं। यहाँ तक कि योगीश्वर भगवान श्री शंकर भी अपने इष्ट उस परम प्रभु से भक्ति का ही वर माँगते हैं। जैसे:—

बार-बार वर माँगहु, हरषि देहु श्रीरंग।
पदसरोज अनपायनी भक्ति सदा सत्संग॥

(रा० च० मानस उ० का०)

बिना भक्ति के राजयोग सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु भक्तियोग स्वयं ही पूर्ण है, उसे और किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। अतः योगाभ्यासी साधकों को चाहिए कि वे अपनी साधना में ईश्वर-प्रणिधान को अवश्य स्थान दें।

प्रभुकृपा से जिन सौभाग्यशाली साधकों को गुरुदेव की शरण प्राप्त हो चुकी है उन्हें अनन्य भाव से गुरुदेव के चरणों का चिन्तन करते रहना चाहिए तथा गुरुदेव की आज्ञा का पालन करते हुए गुरुमन्त्र का अधिक से अधिक जप करना चाहिए। यदि इतनी साधना हम से हो जावे तो शेष कार्य वे सर्वशक्तिमान स्वयं पूरा करा देंगे।

जिन्हें अभी गुरुदेव की शरण न मिली हो उन्हें निष्कामभाव से श्रद्धाभक्ति पूर्वक परमेश्वर को अथवा अपने इष्ट को ही गुरु मानकर अनन्य भजन करते रहना चाहिये। वे गुरुओं के गुरु दीनबन्धु परमात्मा स्वयं ही उनका मार्गनिर्देशन करेंगे।

यमांग दशक

[श्री पन्त महाराज बालेकुन्द्रीकर]

योग शास्त्रोक्त यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि इन अष्टांगों का यथार्थ वर्णन करता हूँ। प्रीति से सुनकर ध्यान में रख।

पहला अङ्ग

यमांग दशक

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) क्षमा, (६) धृति, (७) दया (८) आर्जव, (९) मिताहार, (१०) शौच। ये दशाङ्ग जिसके पास न हों उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। यह वचन सत्य जान।

(१) शरीर, मन तथा क्रिया से दूसरों को किञ्चित् भी पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा है।

(२) 'यह यथार्थ', 'यह धर्म', 'यह सेव्य',—'यह पर-हितकर', 'यह नीति मान्य', इस प्रकार सर्वत्र एक रीति से बोलना ही सत्य कहलाता है।

(३) हमें कितनी ही विपत्ति प्राप्त हो तो भी त्रिकरणपूर्वक (स्थान मान्यादिको)में आशा उत्पन्न न होना ही अस्तेय है।

(४) लोक में रहने वाले स्त्री-समूह में किसी भी रीतिसे—यदीच्छया उलझ न होकर जितेन्द्रिय होकर रहना ही ब्रह्मचर्य है। क्या यह सामान्यजनों से सिद्ध हो सकेगा? अपनी स्त्री ऋतुमती हो, वह ऋतुकाल न उल्लङ्घन करते हुए, उससे रति सुखोपभोग लेना वेद-सम्मत उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाता है।

(५) स्तुति से सन्तोष, निन्दामें असन्तोष किञ्चित् भी न रहना ही क्षमा कहलाती है। यही सज्जनों के लिए अति हितकर है।

(६) धन-धान्य, पुत्र-मित्र, स्त्री आदि के सुख अथवा दुःख से हमारे मनमें विकार न होना ही धृति कहलाती है।

(७) दुष्ट-गोष्ठी सुनकर अपने मनमें क्रोध-आवेश उत्पन्न होते हुए भी उसका दमन (रोकना) करें, यह जो मनका सद्गुण धर्म है उसे दया कहते हैं।

(८) वैदिक विधानोक्त निवृत्ति कर्मों में, सकाम प्रवृत्ति कर्मों में, सर्व धर्माधर्मों में, समस्त विषयों में हमारा समभाव रहना ही आर्जव कहलाता है।

(९) उदरार्थ, अन्न से अथवा उदक से तृप्ति होने तक सेवन करना ही मिताहार कहलाता है। योग मार्ग में यह विधि अति श्रेयस्कर है।

(१०) हमारे शरीर में उत्पन्न होने वाले मल, उदक, मृत्तिका से परिशुद्ध किये गये तो बाह्य शुद्धि कहलाती है। यह बाह्य शुद्धि पुण्यप्रद सिद्धिदायक है। मन में किञ्चित् भी बुरा न चिन्तन करते हुए सभी का सर्वकाल में हित ही सोचना (इच्छा करना) ही अन्तर्शुद्धि कहलाती है।

××

श्री सद्गुरुदेव जी के

आगामी योग-प्रचार कार्य-क्रम

दिनाङ्क		विवरण
८-१२-७६ को	....	जौनपुर के लिए प्रस्थान
८-१२-७६ से ११-१२-७६ तक		योग-प्रचार कार्य-क्रम, जौनपुर पता—द्वारा अशोककुमार कपूर ८६, मछरहट्टा, जौनपुर
१२-१२-७६ को	....	वाराणसी के लिए प्रस्थान
१२-१२-७६ से १४-१२-७६ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम, वाराणसी पता—द्वारा डा० खुशीराम शर्मा १०/६३ नगवा (लंका), वाराणसी-५
१५-१२-७६ को	....	धनबाद के लिए प्रस्थान
१५-१२-७६ से २०-१२-७६ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम, धनबाद पता—द्वारा डा० रामचन्द्रदास अग्रवाल बड़ी मुहल्ला, पानी की टंकी के पास धनबाद (बिहार)
२१-१२-७६ को	....	कलकत्ता के लिए प्रस्थान
२१-१२-७६ से २८-१२-७६ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम, कलकत्ता पता—४०, हरियाणा भवन विवेकानन्द रोड, कलकत्ता-७
२९-१२-७६ को	....	कछवा के लिए प्रस्थान
३०-१२-७६ से २-१-७७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम, कछवा पता—श्री स्वामी प्रसादसिंह एडवोकेट मु० पो० कछवा, मिर्जापुर (उ० प्र०)

● आगामी अङ्क में ●

नोट—परम श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव जी के नगरों में आयोजित जन्म-दिवस समारोह तथा आगरा, लखनऊ, सागर आदि में योग-प्रचार कार्यक्रम के समाचार जनवरी ७७ के अङ्क में आप पढ़िए।

—सं० सम्पादक

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

✶ साक्षात्कार ✶

वह आनन्द निधि,
आनन्द महान,
आज परिपूर्ण रूप से मेरे वश हो गया है।
इसलिए, बजाय इसके कि मैं उसकी ओर जाऊँ,
वही मेरी ओर आकर मुझे पुकार रहा है।
मेरे लिए आज वास्तव में दीपावली है।
प्रेम की कैसी जगमगा[illegible]
कि प्रयत्न का रंग हो जिसे कभी लगा नहीं—
और प्रयत्न के बाहर जिसका प्रचार रहा,
वह आज मेरे घर आया है।
घर आकर मेरे पर उसने प्रकाश फैलाया है।
और ऐसा भी, क्योंकि अपने [illegible] नहीं रहा,
मेरे हृदय का अन्तर्बोध, उसने [illegible] लिया है।

—टागोर

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विमल' भारतीय [illegible] प्रेस, [illegible], [illegible]